गुरुत्तं

भाग-12

आचार्य वसुनन्दी मुनि

परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य गुरुवर
श्री वसुनंदी जी महाराज के
पंचम आचार्य पद दिवस पर प्रकाशित

कृति	:	गुरुत्तं-12
मंगल आशीर्वाद	:	परम पूज्य श्वेतपिच्छाचार्य श्री 108 विद्यानन्द जी मुनिराज016-17)
प्रवचनकार	:	आचार्य श्री 108 वसुनन्दी जी मुनिराज
संपादन	:	आर्यिका वर्धस्वनंदनी
प्राप्ति स्थान	:	श्री जम्बूस्वामी तपोस्थली, बोलखेड़ा (कामां) राजस्थान
संस्करण	:	प्रथम 1000 (सन् 2019)
प्रकाशक	:	निर्ग्रंथ ग्रंथमाला समिति
मुद्रक	:	पारस प्रकाशन, दिल्ली मो.: 9811374961, 9818394651, 9811363613 pkjainparas@gmail.com, kavijain1982@gmail.com

पुरोवाक्

चित्तमर्थनिलीनञ्च चक्षुरक्षरपंक्तिषु।
यत्रेऽस्य संयमः साधोः सः स्वाध्यायः किमुच्यते॥
श्रद्धावान् यदि सत्साधुः स्वाध्यायं कुरुते सदा।
परः स्याद् ध्यानवान् वेगात् स याति परमां गतिम्॥

-(सिद्धान्तसार, 11/32-32)

स्वाध्याय के समय चित्त तो पदार्थों में मग्न रहता है और नेत्र पत्र पर लिखित अक्षर पंक्तियों के पाठ में एकाग्र रहते हैं इस प्रकार साधु के लिए संयम का साधन यह स्वाध्याय है। इसकी प्रशंसा किन शब्दों में की जा सकती है? यदि श्रद्धावान् मुनि सदैव स्वाध्याय में उपयोग लगाता है तो वह उत्कृष्ट ध्यानसिद्धि को प्राप्त करता है एवं परमगति को पाता है।

मनुष्य का जीवन सर्वश्रेष्ठ है। संसार में मनुष्य भी जीवन जीता है और पशु भी किन्तु इन दोनों में विवेक का अंतर है। पशु का विवेक आहार, निद्रा, भय, मैथुन तक सीमित है; किन्तु मनुष्य का विवेक इससे ऊपर उठकर चिंतन की असीमता को मापता है। उसके विवेक से विद्याओं का उद्घाटन होता है, उसकी जिज्ञासा से दर्शन शास्त्रों का जन्म होता है, उसके ज्ञान से भेद-विज्ञान का प्रादुर्भाव होता है। चिंतन की सहज धारा का प्रवाह सभी मनुष्यों में होता है किन्तु कुछ ही लोग "मैं कौन हूँ? जन्म का क्या प्रयोजन है? इत्यादि प्रश्नों पर विचार कर, चिंतन की परिणति से चरित्र को कृतार्थ करते हैं।

प्रश्नावली की ऊहापोह को शांत करने का सामर्थ्य समीचीन ग्रन्थों में निहित है। आचार्यों की दयादृष्टि से ही आज भी अपरिमित ज्ञान हमारे पास उपलब्ध है। उसी ज्ञान के अथाह सागर में निमज्जन

कर विषय-कषायों का पंक धुल जाता है। जल स्नान ये यदि देह निर्मल न हो तो स्नान का प्रयोजन सिद्ध नहीं होने से वह निरर्थक ही होगा उसी प्रकार शास्त्र मंदाकिनी में अवगाहन कर इंद्रियों का दमन व कषायों का शमन होना ही चाहिए। तभी स्वाध्याय की सार्थकता भी है।

शास्त्रों के अध्ययन से विचारों में नवीन शक्ति का उन्मेष प्रतीत होता है। नयी दिशा, नया चिंतन प्रवाह, नवीन विचार, नूतन शोध और वैदुष्य ये निरंतर स्वाध्याय से प्राप्त होते हैं। ज्ञान की उपासना का माध्यम स्वाध्याय ही है। स्वाध्याय करने वाला, चिंतनशील, तत्त्वविचारक अपने व्यक्तित्व में विशालता को समाविष्ट कर पाता है। स्वाध्यायशील मानव की विचारशक्ति और चिन्तनधारा केन्द्रित हो जाती है। सबसे अधिक चंचल मन भी स्वाध्याय से स्थिर होने लगता है और चित्त की स्थिरता आत्मोपलब्धि में सहायक सिद्ध होती है।

स्वाध्याय अभ्यंतर चक्षुओं के लिए अंजनशलाका है। दिव्यदृष्टि का वरदान स्वाध्याय से ही प्राप्त किया जा सकता है। संसार की आकुलता-व्याकुलता से ऊपर उठने के लिए स्वाध्याय उपकारी साधन है। लौकिक दीप के बुझ जाने पर सर्वत्र तिमिर छा जाता है किन्तु शास्त्र स्वाध्याय वह अमोघ दीपक है जिससे उत्पन्न आलोक कभी तिमिरग्रस्त नहीं होता। अखंडज्योतिर्मय यह सम्यग्ज्ञान स्वाध्याय-रसिकों के समीप 'नंदादीप' बनकर उपस्थित रहता है। स्वाध्याय की उपासना निरन्तर करते रहना जीवन को नित्य नियमित रूप से माँजने के समान है।

प्रस्तुत कृति **गुरुत्तं-12** परम पूज्य आचार्य गुरुवर श्री वसुनंदी जी महाराज के प्रवचनों का संकलन है। गुरुवर श्री की वाणी आपके जीवन को सम्यग्ज्ञान के प्रकाश से आलोकित कर सके, नवीन सम्यक् पथ प्रदान कर सके एतदर्थ इनका संकलन किया गया है।

'गुरुत्तं' के इतने भाग निरंतर पाठकों की अभिरुचि का ही फल है उनकी अहर्निश गुरु के प्रवचनों को पढ़ने की भावना हमारे पास पहुँचती रही और हम पुनः उस कार्य में लग गए। वास्तव में गुरुवर श्री का एक-एक शब्द अमूल्य है, जीवन में सम्यक् परिवर्तन लाने वाला है, व्यक्तित्व को विराटता, हृदय को उदारता और विचारों को असीमितता प्रदान करने वाला है।

हमारे द्वारा प्रमादवश, अल्पज्ञतावश इस संपादन के कार्य में यत्किंचित् भी त्रुटि रह गई हो तो विद्वतजन संशोधित कर पढ़ें। नीर-क्षीर विवेकी हंसवत् गुणग्राहक दृष्टि बनाकर क्षीर रूपी गुणों का अवग्रहण करें। कषायों के शमनार्थ व कल्याणार्थ गुरुवर श्री के प्रवचनों का संकलन "गुरुत्तं 12" के रूप में किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक की पांडुलिपि तैयार करने में संघस्थ त्यागीव्रती, मुद्रणप्रकाशन में सहयोगी धर्मस्नेही बंधुजनों को पूज्य गुरुवर श्री का मंगलमय शुभाशीष।

गुरुवर श्री का संयमपथ सदैव आलौकित रहे, शताधिक वर्षों तक यह वसुधा गुरुवर श्री के तप, ज्ञान, साधना से सुरभित रहे। परमपूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्यश्री वसुनंदी जी मुनिराज के चरणों में सिद्ध, श्रुत, आचार्य भक्ति सहित कोटिशः नमोस्तु, नमोस्तु, नमोस्तु.....।।

।। सर्वेषां मंगलं भवतु ।।

श्री शुभमिति अश्विन शुक्ल एकादशी — ॐ ह्रीं नमः

श्री वीर निर्वाण संवत् 2545 — आर्यिका वर्धस्वनंदनी

श्री पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मंदिर नोएडा, से.-50 — 9 अक्टूबर 2019

अनुक्रमणिका

कर्त्तव्यनिष्ठ बनो	7
जीवन में जप और तप का महत्व	15
जुबान की मिठास	25
दोषवादे च मौनं	34
माँगो मत जागो	42
अच्छे को अच्छा	48
अंतराय कर्म	55
औषध सम उपयोगी	65
पात्र दान	74
मरणसमं णत्थि भयं	81
आभरण	90
उपकरण	99
अपवित्र कौन?	107
लघुता के कारण	114
गृहस्थों के पाँच कर्त्तव्य	121
महाजनो येन गता: स पंथा:	128
जैन धर्म	135
सेवनीय चार पदार्थ	143
टकराव नहीं समझौता	150
अपना-पराया	160

"कर्त्तव्यनिष्ठ बनो"

महानुभाव!

जीवन में सुख और शांति प्राप्त करने का एक अचूक मार्ग है, वह है कर्त्तव्य का पालन करना। जो व्यक्ति समय और स्थान के अनुसार अपने कर्त्तव्य का निष्ठा के साथ पालन करना जानता है, कर्त्तव्य पालन में ही आनंद का अनुभव करता है ऐसे व्यक्ति को कोई दु:खी नहीं कर पाता। इसीलिये नारायण श्री कृष्ण ने 'गीता' में अपना उपदेश देते हुये "कर्त्तव्य मेव धर्म:" इस प्रकार से कहा। अन्य-अन्य जगह भी कर्त्तव्य को धर्म की श्रेणी में लिया। निष्ठा के साथ स्व-पर कल्याण की भावना से जो सदाशय से कर्म किया जाता है, वह कर्म धर्म की श्रेणी में आता है, पूजा की श्रेणी में आता है।

जिस-जिस पुरुष ने प्रतिकूलता के समय में भी अपने कर्त्तव्य का पालन किया, वह पुरुष लोक प्रशंसनीय तो हुआ ही वह श्रद्धा का भी पात्र बना, लोगों ने उनकी पूजा की, उस जीव ने अपनी आत्मा का कल्याण किया। कर्त्तव्य का पालन यदि छोटा व्यक्ति भी करता है, छोटा बालक भी करता है, सामान्य व्यक्ति भी करता है तब भी वह कर्त्तव्य के माध्यम से प्रशंसनीय और समादरणीय होता है। जो अपने कर्त्तव्य का उल्लंघन करता है वह चाहे बालक हो चाहे पालक, चाहे वृद्ध हो या युवा, चाहे शासक हो या शासित, राजा हो या रंक, विद्वान् हो या मूर्ख, पुरुष हो या स्त्री, पशु हो या पक्षी कोई भी क्यों न हो जो कोई भी अपने कर्त्तव्य का उल्लंघन करता है वह लोक निंद्य अवस्था को प्राप्त होता है।

कर्त्तव्य पालन करने वाला व्यक्ति अपने आप में जिस आनंद का अनुभव करता है वह आनंद कर्त्तव्य हीनता से प्राप्त नहीं किया जा सकता। कर्त्तव्य पालन के साथ-साथ दूसरी बात ये ध्यान रखना है

कि जीवन में कभी भी अधिकारों का दुरुपयोग नहीं करना है। कर्त्तव्यों का पालन करके जब अधिकारों का सदुपयोग किया जाता है तब वही व्यक्ति आदर्श पुरुष, युग पुरुष, महापुरुष, महात्मापुरुष, परमात्मा पुरुष कहा जाता है। आदेशों का पालन अनुकूलताओं में तो बहुत से लोग करते हैं किंतु विशेषता तो तब है कि जब प्रतिकूलतायें सब तरफ से तैयार हों उस समय भी वह अपने कर्त्तव्यों का पालन निष्ठा के साथ करे, उस कर्त्तव्य में भी आनंद की अनुभूति करे, तब वह वास्तव में 'कर्त्तव्य का पालन करना है।'

श्रवणकुमार ने अपने वृद्ध माता-पिता को डोली में बिठाकर वह डोली अपने कंधों पर रखकर तीर्थ यात्रा करायी। जो पुत्र का माता-पिता के प्रति कर्त्तव्य है उसका पालन किया। लोक श्रुति में आप सुनते हैं राजा हरिश्चन्द्र ने सत्य के लिये अपने राज्य-वैभव का त्याग किया, पत्नी व पुत्र को भी छोड़ना पड़ा, स्वयं को श्मशान घाट में सेवा करनी पड़ी। देवों के द्वारा बड़ी कठोर व निष्ठुर परीक्षा ली गयी, पुत्र को सर्प बनकर के डस लिया, वह मृतक हो गया, तारा को भी घर से निकाल दिया। पुत्र का संस्कार करने के लिये मरघट पर लाती है वहाँ हरिश्चन्द्र रखवाली कर रहे होते हैं, उसके मालिक का आदेश था कि बिना टेक्स दिये श्मशान में कोई मुर्दे को जलायेगा नहीं, तारा के पास कुछ भी नहीं था उसने प्रार्थना की कि आप मुझसे ही टेक्स माँगते हैं आपने मुझे छोड़ दिया, पुत्र को सर्प ने डस लिया इस अवस्था में मैं आपको टैक्स कहाँ से दूँ, उस समय हरिश्चन्द्र ने अपने मन को चंचल नहीं किया, मोह का आवेश नहीं आया, उसकी प्रार्थना से मन पिघला नहीं, सत्य के प्रति निष्ठ रहे, कहा, जो कुछ भी हो जैसे भी हो इस समय मैं अपने मालिक की नौकरी कर रहा हूँ उसको मैं धोखा नहीं दे सकता और इस मालिक को धोखा देना तो चलो सरल बात है किंतु मेरा मालिक सर्वदर्शी, सर्वज्ञ है वह सब जानता-देखता है इसीलिये मैं अपने कर्त्तव्य में चूक

नहीं कर सकता, तुम्हें टैक्स देना ही होगा, तभी तुम संस्कार कर सकोगी, नहीं तो अपने मृत पुत्र को ले जा सकती हो। उस समय तारा ने भी यह सोचकर के कि जब मेरे पति अपने कर्त्तव्य का निष्ठा से पालन कर रहे हैं, इनका मन चलायमान नहीं है तब मैं भी टैक्स चुका कर पुत्र का संस्कार कर दूँ, और अपनी आधी साड़ी फाड़कर के, टैक्स के रूप में देकर के संस्कार करती है। संस्कार करने के लिये जैसे ही चिता सजायी, उस समय देवों ने आकाश से पुष्पवर्षा की और परीक्षा लेने वाले देव उपस्थित हुये, कहा-कि वास्तव में आपके बारे में जैसा सुना था, वैसी ही सत्यनिष्ठा आपमें पायी।

महाराज दशरथ भी अपने कर्त्तव्य का पालन करते हैं महारानी कैकया के द्वारा जब वरदान माँगे गये, तो अपने पुत्र भरत के लिये राज्य माँगा तो राज्य दे दिया और राम वनवास के लिये चले गये। वैदिक परम्परा कहती है राम के लिये वनवास माँगा था, किंतु जैन परम्परा कहती है कि जब भरत को राजगद्दी मिली तब अपने पिता के वचनों का पालन करने के लिये राम ने सोचा कि मैं यदि राज्य में रहूँगा तो मेरा छोटा भाई राजगद्दी पर नहीं बैठेगा, इसीलिये मेरा वन में जाना ही उचित है। पर वैदिक परम्परा कहती है कि पिता की आज्ञानुसार जो कैकया माँ ने दो वचन माँगे थे उन वचनों के अनुसार भरत को राजगद्दी और राम को 14 वर्ष का वनवास। राम चाहते थे कि मेरे पिता मेरे कारण मोही न बनें, उनके सत्य का खण्डन न हो जाये, इसीलिये मैं उनके वचनों का पालन करता हूँ, जिस मुहूर्त्त में उनका राज्याभिषेक होने वाला था, उसी मुहूर्त्त में उन्हें वन के लिये प्रस्थान करना पड़ा।

राम वन के लिये प्रस्थान कर रहे हैं, कौशल्या कहती है, पुत्र! तुम्हारे बिना मैं जी न सकूँगी, तुम मुझे छोड़कर न जाओ, तब राम ने समझाया-माँ! सत्य की रक्षा के लिये पिता ने मुझसे मोह तोड़ा, मैं

भी अपने कर्त्तव्य का पालन करने जा रहा हूँ। पिता जी ने अपने कर्त्तव्य का पालन किया है इसीलिये आप भी अपने कर्त्तव्य का पालन करके पति सेवा में संलग्न रहें। कौशल्या ने बात को स्वीकार किया और उसी समय राम जब वनवास के लिये जाने लगे सीता ने आकर कहा-आप वन को जा रहे हैं, मैं भी आपके साथ चलूँगी, राम ने कहा-ऐसा नहीं हो सकता, आप राजकुमारी हैं वन में आप कष्टों को सहन न कर पायेंगी इसीलिये आप राजमहलों में रहें, पिताजी व माँ की सेवा करें। उन्होंने कहा-अभी तो आप अपनी माँ को समझा रहे थे कि आपको पति की सेवा करनी है, पति की सेवा करना प्रथम धर्म है, इसीलिये मैं भी अपने पति की सेवा करने चलूँगी। रामचन्द्र जी निरुत्तर हो गये। पुनः यह समाचार जब लक्ष्मण ने सुना उसने कहा-भाई के साथ मैं भी जाऊँगा, माँ ने कहा-ठीक है तुम्हारा ये ही कर्त्तव्य है कि भाई की सेवा में रहो, जाते समय कौशल्या ने राम से कहा जिस तरह जनक दुलारी सीता, सुमित्रानंदन लक्ष्मण तुम्हारे साथ में जा रहे हैं जब तुम वनवास से लौटो तब ध्यान रखना है कि सभी सकुशल इसी तरह लौट कर आयें।

वनवास हुआ सभी ने कर्त्तव्य का पालन किया, कोई भी अपने कर्त्तव्य से पीछे नहीं हटे, यहाँ तक कि वनवास के दौरान सीता का अपहरण हुआ, अपहरण के दौरान जिस समय रावण से युद्ध हुआ, लक्ष्मण को शक्ति लगी तब वैदिक परम्परा के अनुसार संजीवनी बूटी लेने के लिये हनुमान आते हैं और हनुमान जी ने रामचन्द्र जी के मुख से भरत की प्रशंसा कई बार सुनी थी, जब वह अयोध्या के ऊपर से जा रहे थे, भरत वहाँ के राजा राज्य कर रहे थे, देखा कि कोई पहाड़ लेकर जा रहा है, यदि अयोध्या पर पटक दिया तो पूरी जनता नष्ट हो जायेगी पुनः अपने महलों से निकलकर (जहाँ पर महलों के बाहर एक झोंपड़ी में रहते थे वहाँ से निकले) तीर कमान लेकर खड़े हो गये, उन्होंने ललकारा कौन है? हनुमान ने कोई उत्तर नहीं दिया

तो उन्हें तीर छोड़ना पड़ा। वैदिक परम्परा के अनुसार वह तीर हनुमान के पैर तक पहुँचा और वे राम-राम कहते हुये अयोध्या की भूमि पर आ गये।

राम का नाम सुनते ही भरत को बहुत क्षोभ हुआ कि मेरे द्वारा किसी रामभक्त का अहित कैसे हो गया, हनुमान ने बताया कि-रावण से युद्ध चल रहा है, लंकेश जो तीन खण्ड का अधिपति है उसके द्वारा लक्ष्मण को शक्ति लगी हुयी है इसीलिये मुझे प्रातःकाल तक संजीवनी बूटी लेकर जाना जरूरी है अब मैं कैसे जा सकूँगा। भरत ने कहा चलो मेरे बाण पर बैठो, मैं तुम्हें वहीं पहुँचा दूँगा जहाँ पर युद्ध चल रहा है। हनुमान भरत की परीक्षा भी लेना चाहते थे, क्योंकि बार-बार जब राम कहते थे कि "ना भये भईया भरत से" तो उसको लगता था कि भरत में ऐसी क्या विशेषता है, मैं जाकर के देखूँ।

वैदिक परम्परा के अनुसार हनुमान भरत के तीर पर खड़े हुये, हाथ में पहाड़ भी था, अपने सहज सुलभ बाल्य चंचल स्वभाव से उन्होंने तीर पर थोड़ा सा झटका लगाकर देखना चाहा कि भरत में कितनी सामर्थ्य है। भरत उनके मन को ताड़ गये उन्होंने कहा-हनुमान जी! आप मेरे तीर पर आसीन तो हुये हैं किन्तु मुझे एक भय है आप इतने हल्के हैं कहीं मेरा तीर लंका को पार करके पाताल लंका न पहुँच जाये। हनुमान ने कहा-क्षमा करना मैं आपकी परीक्षा लेने लगा, मैं राम भक्त, आपका भी भक्त, मुझे परीक्षा लेने का अधिकार नहीं, मैं स्वयं ही चला जाऊँगा। भरत ने कहा-हम सेना लेकर चलते हैं, बोले-आपकी आवश्यकता नहीं पड़ेगी आप निश्चिंत रहो।

उस समय हनुमान से मिलने कौशल्या, सुमित्रा आदि सभी राजमातायें आयीं, जब उन्होंने ये समाचार सुना तो सुमित्रा ने कहा-राम से कहना वे विकल्प न करें लक्ष्मण अपने भाई की सेवा में काम आ गया मुझे प्रसन्नता है। कौशल्या ने कहा-नहीं, राम से कहना जैसे

तीनों यहाँ से गये थे राम सीता और लक्ष्मण तीनों को ही अयोध्या लौटकर आना है। यदि लक्ष्मण को कुछ हो गया तो अयोध्या लौटकर मत आना। महानुभाव! पहले उस समय क्या आदर्श रहता था, क्या न्यायप्रियता थी, क्या कर्त्तव्य-निष्ठा थी। कर्त्तव्य का पालन करने के लिये राम ने हर मर्यादा का पालन किया, लक्ष्मण ने अपनी मर्यादा का पालन किया, सीता ने अपनी मर्यादा का पालन किया।

अंजना सती को पवनंजय ने 22 वर्ष के लिये, बस छोटी सी बात सुनकर छोड़ दिया। अंजना के तो पूर्व कर्म का उदय था ही और उसमें निमित्त बने पवनंजय। 22 वर्ष तक अंजना अपने पति को छोड़ करके गयी नहीं, चाहती तो दीक्षा लेकर के अपना कल्याण कर सकती थी, किंतु उसने अपना कर्त्तव्य समझकर कि बिना पति की स्वीकृति के मैं ऐसे नहीं जा सकती और 22 वर्ष तक पति वियोग सहन किया और पवनंजय भी अपनी मर्यादा में रहे। वे चाहते तो अन्य अनेकों राजकुमारियों के संबंध आये, राजाओं के यहाँ से संबंध आये किंतु उन्होंने स्वीकार नहीं किया।

मर्यादा का पालन करने वाले पाण्डव रहे उन्होंने न्याय के साथ युद्ध किया, पहले युद्ध करना नहीं चाहा किंतु युद्ध करना पड़ा। उन्होंने अन्याय का सहारा नहीं लिया, श्रीकृष्ण ने भी जब भी युद्ध किये न्याय के साथ किये। दूसरी और हम देखें कर्त्तव्य विहीन चाहे कंस जिन्होंने अपने पिता को भी काराग्रह में डाल दिया, कौरव जो सत्ता के लोभ में अंधे हो गए, धृतराष्ट्र भी उस समय अंधे हो गये वे आँखों से अंधे नहीं वरन् मोह से भी अंधे हो गये, उस समय उनकी बुद्धि पर भी पर्दा पड़ गया और दुर्योधन राज्य के लोभ में अपने ही भाई से युद्ध करने को तैयार हो गया, कहने लगा-मैं सुई की नोंक के बराबर भी भूमि नहीं दूँगा।

चाहे रावण को देखो जिसने अपने अधिकारों का दुरुपयोग किया, वह दुर्गति को प्राप्त हुआ। जिस किसी ने भी कर्त्तव्य हीनता की उसकी दुर्गति हो गयी। आज भारतीय इतिहास का कोई भी शास्त्र उठाकर आप देखें, जिस किसी व्यक्ति ने भी अपने कर्त्तव्य का निष्ठा से पालन किया है वह व्यक्ति सम्मानीय, प्रशंसनीय, लोकपूज्य आदर्श पुरुष रहा है और जिसने अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं किया चाहे कितना बड़ा व्यक्ति भी रहा हो, अधिकारों का दुरुपयोग किया है तो वह लोकनिंदा को प्राप्त हुआ है, अपवाद को प्राप्त हुआ है, दुरावस्था को प्राप्त हुआ है, दु:खों को प्राप्त हुआ, चाहे वह कोई भी रहा हो।

वर्तमान काल में भी जितने भी शासक हुये उनमें जिन शासकों ने अपने कर्त्तव्यों का निष्ठा से पालन किया वे शासक आज भी भारतीय जनता के हृदय में आदर व सम्मान के पात्र हैं। दूसरी ओर ऐसे व्यक्ति भी रहे जिन्होंने कर्त्तव्यों का पालन नहीं किया, अधिकारों का दुरुपयोग किया, वे आज भी इतिहास में श्याम रूप से देखे जाते हैं। उनका श्याम चरित्र दूसरों के लिये घृणित चरित्र दिखाई देता है। चाहे कोई आतंकवादी हो, चाहे कोई तानाशाही करने वाले शासक हुये हों, चाहे और भी कोई अन्याय अनीति का पक्ष लेने वाले रहे किंतु अपने रहते हुये उन्होंने अपने सैन्य बल, धन बल, राज्य बल के आधार से भले ही लोक पूजा को प्राप्त किया हो, किंतु वे परोक्ष में निंदा को प्राप्त हुये।

हम तो आपसे इतना कहना चाहते हैं आप चाहें जहाँ पर भी हैं, जिस स्थान पर हैं उस पद पर रहते हुये आपके जो कर्त्तव्य हैं उनका निष्ठा से पालन करो, वही आपका कर्त्तव्य है, वही आपकी पूजा है। यदि अपने कर्त्तव्य को छोड़कर के, कर्त्तव्य की चोरी करते हुये बहुत बड़े-बड़े महायज्ञ भी किये जायें, चोरी-बेईमानी करते हुये यदि कोई

और भी अच्छा कार्य किया जाता है तो सुफल देने में असमर्थ होता है। पुत्र का कर्त्तव्य क्या है अपने माता-पिता के प्रति, माता-पिता का कर्त्तव्य क्या है पुत्र के प्रति या भाई-भाई के प्रति, मित्र के प्रति, आदि-आदि किन-किन के प्रति क्या-क्या कर्त्तव्य हैं उन सभी कर्त्तव्यों की समीक्षा करें और उन कर्त्तव्यों का पालन नहीं कर रहे हैं तो करना प्रारंभ करें। प्रभु परमात्मा से यह शक्ति माँगे कि हे प्रभो! मुझे ऐसी शक्ति व बुद्धि दें कि मैं निष्ठा के साथ अपने कर्त्तव्यों का पालन कर सकूँ, मुझे जो कुछ भी अधिकार प्राप्त हुये हैं उन अधिकारों का सम्यक् उपयोग कर सकूँ, "बहुजन हिताय बहुजन सुखाय" इस भावना से अधिकारों का उपयोग करूँ। ऐसी भावना जो रखता है वह नि:संदेह प्रशंसनीय, वंदनीय, आदरणीय एवं आदर्श पुरुष कहा जाता है। उसका जीवन स्वयं के लिये भी सुखमय होता है और दूसरों के लिये भी सुख प्रदान करने वाला होता है।

आप सभी निष्ठा के साथ अपने कर्त्तव्यों का पालन करें आपके प्रति हम ऐसी मंगल भावना भाते हैं, और इन्हीं सद्भावनाओं के साथ अपनी शब्द श्रृंखला को विराम देते हैं।

"जैनं जयतु शासनं"

"जीवन में जप और तप का महत्व"

महानुभाव! जीवन में जप और तप क्यों आवश्यक है? क्या जप और तप के बिना जीवन सफल और सार्थक नहीं हो सकता? नहीं हो सकता। जप और तप दोनों आधार हैं मोक्ष मार्ग के, जप और तप दोनों साधन हैं आत्मशोधन के, जप और तप दोनों संसार सागर से पार होने के लिये आलम्बन हैं। बिना जप और तप के मोक्ष संभव नहीं है, बिना जप और तप के शाश्वत सुख संभव नहीं है। बिना जप और तप के अनंतज्ञान संभव नहीं है, अनंत शक्ति संभव नहीं है। जब संभव नहीं है तब उसे प्राप्त करने के लिये जप-तप को स्वीकार करना ही पड़ेगा।

कोई व्यक्ति किसी कक्ष में बंद हो गया, उसमें से निकलने का एक ही दरवाजा है तब उसी दरवाजे को खोलना पड़ेगा। जप और तप दोनों अनिवार्य शर्त हैं इन शर्तों को स्वीकार किये बिना मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति और संस्थिति संभव नहीं है। क्या है जप और क्या है तप? मनुष्य दो वर्गों में बँटा है एक वर्ग वह है जो गृहस्थ जीवन में रहता है, दूसरा वर्ग वह है जो गृहत्यागी, साधु संन्यासी, संत महात्मा बनकर रहता है। जो गृहस्थ जीवन में रहता है उसके जीवन में जप की मुख्यता है जो संन्यासी जीवन में रहता है उसके जीवन में तप की मुख्यता है। अर्थात् गृहस्थ के जीवन में जप की मुख्यता है तो तप की गौणता है, साधु जीवन में तप की मुख्यता है तो जप की गौणता किन्तु दोनों को चाहिये दोनों। जप के बारे में कहा-

जकारो जन्मविच्छेदः, पकारो पापनाशनम्।
तस्माज्जपःइति प्रोक्तः, जन्म पापविनाशकः।।

जप शब्द में दो अक्षर हैं ज+प जकार का आशय होता है जन्म अर्थात् संसार, जो जन्म मरण का नाश करने वाला है, पकार का

आशय है पाप, जो पाप का नाश करने वाला है। जब दोनों अक्षर मिल जाते हैं तब जप जन्मविच्छेदक व पाप का नाशक होता है।

महानुभाव! जप लगाते समय मन व इन्द्रियों का नियंत्रण जरूरी है, जाप लगाते समय इच्छाओं का निरोध जरूरी है यदि कोई कांक्षा मन में रखकर के जप लगाया जाता है तब उस इच्छा की पूर्ति तो हो जाती है किन्तु वह जप मोक्ष देने में समर्थ नहीं होता। इसीलिये जाप लगाने वाले साधक को मन में कांक्षा का भाव नहीं रखना चाहिये। जप लगायें, अपना कर्त्तव्य करें जप लगाने में चाहे बहु अक्षरों का जप लगायें, चाहें अल्प अक्षरों के समूह का जप लगायें जप एक आलम्बन है चित्त को शुद्ध करने का, जप के आलम्बन से, मंत्र, बीजाक्षरों के माध्यम से चित्त एकाग्र होता है। जब चित्त एकाग्र होता है तो संतुलित होता है तब नि:संदेह वह जप अंदर के विकारों को नष्ट करता है, वह जप पाप को नष्ट करता है।

जप के करने से समागत विघ्न दूर भागते हैं, जप के करने से दु:ख-दर्द दूर भागता है, प्रतिकूलतायें दूर भागती हैं, गृहस्थ के जीवन में सब अनुकूलतायें बनती हैं इसीलिये कुछ साधक ऐसे भी होते हैं जो जप लगाते हैं तो साकांक्ष लगाते हैं, मेरी अमुक भावना पूर्ण हो जाये और उनका कार्य पूर्ण होता भी है। चाहे वह जप नारायण श्री कृष्ण ने जब द्वारिका बसायी उस समय किया। चाहे जप भरत चक्रवर्ती ने किया, दिग्विजय के समय। तो जब भी जप किया जाये उसका सही मार्ग यह है कि वह विषयों का त्याग करे, कषायों को शमित करे, पापों का त्याग करे यहाँ तक कि जप लगाते समय तो अन्न-जल का भी त्याग करना चाहिये। इस प्रकार से लगायी गयी जप बहुत प्रभावी होती है।

यदि अन्न जल का त्याग पूरा नहीं कर सकता है तब फिर जल लेकर के जप करे, तब भी संभव नहीं हो सके तो जल के साथ फल

ग्रहण करे, तब भी संभव न हो सके तो दुग्धादि ऐसे पदार्थ ग्रहण करे जिससे मादकता न आये, तब भी काम न चले तो फिर एक बार कोई एक अन्न लेकर के जप लगाये, या दो बार भी लेता है तो शुद्ध भोजन करे क्योंकि जप पर उस भोजन का भी प्रभाव पड़ता है इसीलिये जप शुद्ध मन से लगाना है। गृहस्थ है तो शुद्ध वस्त्र पहनकर लगाये, शुद्ध आसन से, शुद्ध मुद्रा में लगाये, शुद्ध माला लेकर लगाये, शुद्ध दिशा में मुख करके लगाये, शुद्ध काल में लगाये तो जप का प्रभाव अच्छा पड़ता है।

जाप करने के लिए सर्वप्रथम 8 प्रकार की शुद्धियाँ बतायीं-

द्रव्य शुद्धि-द्रव्यशुद्धि से यहाँ अभिप्राय पात्र की अन्तरंग शुद्धि से है। अंतरंग में पंचेन्द्रिय के विषय, काम-क्रोध-मोह आदि विकारों को हटाकर जाप करना चाहिए।

क्षेत्र शुद्धि-जाप के लिए क्षेत्र शुद्धि भी आवश्यक है। जाप का स्थान मच्छर-डाँस आदि बाधक जन्तुओं से रहित हो, निराकुल स्थान हो जहाँ हल्ला-गुल्ला भी न हो अन्यथा जाप में मन स्थिर नहीं हो पाएगा।

समय शुद्धि-प्रात:, मध्याह्न और सन्ध्या समय मंत्र जाप अवश्य करना चाहिए। जब मन आकुलता-व्याकुलता से रहित हो, शांत व प्रसन्न हो, वह समय जाप के लिए श्रेष्ठ कहा जा सकता है क्योंकि तब चित्त को मंत्र में स्थिर किया जा सकता है।

आसन शुद्धि-काष्ठ, शिला, भूमि अथवा डाभ आदि के आसन पर पूर्व या उत्तरदिशा की ओर मुँह करके पद्मासन, खड़गासन या अर्धपद्मासन से जाप करने से जाप के विशेष फल की प्राप्ति होती है।

विनय शुद्धि-जाप करने के लिए नम्रतापूर्वक भीतर का अनुराग भी रहना आवश्यक है। जब तक जाप करने के लिए भीतर का

उत्साह नहीं होगा, तब तक सच्चे मन से जाप नहीं किया जा सकता। जाप के साधन उपकरण माला आदि अथवा जिस आसन पर बैठकर जाप करना हो, उस आसन को भी विवेकपूर्वक साफ करना चाहिए एवं यथायोग्य स्थान पर रखना चाहिए। यदि माला आदि इधर-उधर धूल-मिट्टी में पड़ी हो अथवा पैर आदि से छू रही हो तो वह विशुद्धि में सहायक न होगी। अत: द्रव्य-भाव दोनों प्रकार की विनयशुद्धि भी आवश्यक है।

मन शुद्धि-विचारों की गन्दगी का त्याग कर मन को एकाग्र करना, चंचल मन इधर-उधर न भटकने पाये इसकी चेष्टा करना, मन को पूर्णतया पवित्र बनाने का प्रयास करना ही इस शुद्धि में अभिप्रेत है।

वचन शुद्धि-धीरे-धीरे साम्यभाव-पूर्वक मंत्र का शुद्ध उच्चारण कर जाप करना चाहिए।

काय शुद्धि-शौचादि शंकाओं से निवृत्त होकर यत्नाचार पूर्वक शरीर शुद्ध करके, हलन-चलन क्रिया से रहित जाप करना चाहिए। जाप के समय शारीरिक शुद्धि का भी ध्यान रखना चाहिए।

इस प्रकार सभी शुद्धियों को ध्यान में रखकर किया गया जाप अपने पूर्ण फल को देने वाला होता है।

यह जप मान कर चलिये कि एक विमान है जो कि दुर्गति रूपी गर्त से निकालकर के सुगति रूपी महान् शिखर पर पहुँचाने वाला है। जप गृहस्थों को प्रमुखता से लगानी चाहिये, इसीलिये जप की परम्परा गृहस्थों के लिये सर्वत्र है। पूजा करो तो जप करो, स्वाध्याय करो तो जाप लगाओ, दर्शन करने मंदिर जाओ तो जप करो, साधु के पास जाओ तो पहले कायोत्सर्ग करो जप लगाओ, चाहे दान देते हो तो महामंत्र का उच्चारण करो तो जप लगाकर के ही कोई कार्य करो। यहाँ तक कि भोजन भी करो तो उससे पूर्व जाप लगाओ, शुद्धि के

लिये जाओ तो जाप करो, शयन करना है तो जाप लगाओ, चलते-फिरते, उठते-बैठते भी जाप लगाओ। जिस प्रकार किसी स्थान पर बहुत सारे कबूतर बैठे हों, किसी ने दूर से एक पत्थर फेंका तो सारे कबूतर एक साथ उड़ जाते हैं उसी प्रकार मंत्र जप रूपी एक पत्थर के माध्यम से आत्मा रूपी भूमि पर बैठे सैंकड़ों कर्म रूपी कबूतर एक साथ उड़ जाते हैं जाप को बहुत महत्त्वपूर्ण कहा।

तप-जो जप के साथ साधना कर रहा है वह साधना उसका तप हो गया। "इच्छा निरोधो तप:" इन्द्रियों पर नियंत्रण करना तप है वह गृहस्थ करता है। अब साधक की अपेक्षा से देखें तो तप में 'त' का अर्थ होता है-'तारने वाला' और 'प' का अर्थ होता है पवित्र करने वाला अथवा जो तप्तायमान करे, किसको? आत्मा को। बाहर के आताप तो शरीर को तपाते हैं किन्तु इच्छा निरोध के तप से एक ऐसी अग्नि पैदा होती है जिसमें आत्मा शुद्ध होती है। जैसे बाह्य अग्नि में कई वस्तुयें तपाकर शुद्ध की जाती हैं, सोना आदि धातु शुद्ध की जाती हैं ऐसे ही आध्यात्मिक तप में, धार्मिक तप में आत्मा को तपाया जाता है, आत्मा ज्यों-ज्यों तपती जाती है त्यों-त्यों निखरती चली जाती है। जो साधक होता है वह तप करता है, तप करने वाला ही तपस्वी है, साधना करने वाला ही साधक है। वह कैसा होना चाहिये, तो आचार्य समन्तभद्र स्वामी जी ने लिखा है-

विषयाशावशातीतो निरारंभोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते॥ र.श्रा.

तपस्वी तब बन पाता है जब विषय और कषाय की आशाओं से अतीत हो गया है, जिसने विषय कषाय के समुद्र को तैरकर पार कर लिया है, जिसके पास कोई आरंभ नहीं है, जो कोई खेती-व्यापारादि नहीं करता, नौकरी-चाकरी नहीं करता, कोई उद्योग धंधा नहीं करता। जो परिग्रह से रहित है, वह किसी भी चेतन-अचेतन परिग्रह

के जाल में बँधा नहीं है। उसके साथ बहुत सारा श्रावकों का समूह दिखाई दे सकता है और वह श्रावकों का समूह उसे बाँधना चाहता है अपनी भक्ति-श्रद्धा-निष्ठा में किंतु वह साधु किसी से बँधा नहीं है क्षणभर में सबसे ऊपर है। अचेतन परिग्रह संसारी प्राणियों को दिखाई दे सकता है किन्तु वह उससे बँधा नहीं है। तीर्थंकर, केवली, अरिहंत भगवान् समवशरण के बीच में हैं अज्ञानी पुरुष कहेगा, अरे! इतना परिग्रह साथ में लेकर चल रहे हैं ये काहे के साधक हैं किंतु वह परिग्रह आपको दिखाई दे रहा है क्योंकि उनके चित्त को आप जान नहीं सकते इसीलिये बाह्य वस्तु को देखकर के कह सकते हैं कि परिग्रह है, उनके चित्त की शुद्धि वे स्वयं जानते हैं।

महानुभाव! जिन्होंने विषय कषाय के समुद्र को पार कर लिया है, जो निरारंभ हो गये हैं, आरंभ की सांकलें तोड़ दी हैं, परिग्रह के सूक्ष्म बँधन भी तोड़ दिये हैं अब वे इससे मुक्त होकर के सम्यग्ज्ञान में लीन हैं। वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश इन पाँच प्रकार के स्वाध्याय में रत हैं, तत्त्वचिंतन में अपनी आत्मा के मुहुर-मुहुर अनुचिंतन व अवलोकन में लगे हैं पुनः चित्त को एकाग्र करके धर्म का आश्रय लेकर ध्यान कर रहे हैं वे धर्मध्यान से शुक्ल ध्यान में पहुँचते हैं।

महानुभाव! साधक वह है जो सहता है, जो किसी से कुछ कहता नहीं है, साधक वह है जो वातावरण को देखकर बहता नहीं, जो अपने आप में रहता है। जो किसी से अच्छी-बुरी बात कहता नहीं, मुख से बोले बिना उसका आचरण सब कुछ बता देता है। वह साधक किसी बाह्य प्रसंग को देखकर उसमें बहता नहीं, वह अनुकूल-प्रतिकूल वातावरण को देखकर भी अपने आप में रहता है।

तप के भी दो भेद हैं-एक तप वह है जो बाहर से देखने में आता है, एक तप वह है जो बाहर से देखने में नहीं आता। जो तप

बाहर से देखने में आता है वह तो मिथ्यादृष्टि भी कर सकता है किंतु अंतरंग के तप को सम्यग्दृष्टि ही कर पाता है। सम्यग्दृष्टि बाह्य तप भी करता है ऐसा नहीं कि वह नहीं करता किंतु बाह्य तप को मिथ्या दृष्टि भी कर सकता है। मिथ्यादृष्टि यदि अंतरंग तप भी करता है तो बाह्य रूप से दिखावटी करता है अंतरंग में वो बात नहीं होती किंतु सम्यग्दृष्टि बहिरंग भी करता है तो अन्तरात्मा से अनुस्यूत होकर करता है उसका बहिरंग तप भी कर्मनिर्जरा का कारण है। अंतरंग तप मोक्षमार्ग में गति प्रदान करने वाला है। तो दोनों प्रकार के तपों को वह साधक तपता है। जैसे तप के बारह भेद हैं ऐसे ही जप के मुख्य रूप से चार भेद हैं।

जप के चार भेदों का पालन श्रावक करता है साधु अंतिम जप को करता है।

वैखरी जाप-जो उच्चारण करके, होठ व जुबान हिलाकर बोला जाए, जिसे दूसरा सुन सके, जो स्वयं को व अन्य को सुनाई दे सके वह वैखरी जाप है। जैसे किसी बर्तन में कुछ सामान रखा है, उसे ठोकर लग जाती है तो बर्तन लुढ़क जाता है, उसमें रखी वस्तु बाहर बिखर जाती है, बस जो कुछ थोड़ी उसके तले में रह जाती है वही बच पाती है, इसी प्रकार है यह वैखरी जाप। इस विधि से किये गये जाप का फल बिखर जाता है, केवल पच्चीस प्रतिशत ही बच पाता है।

उपांशु जाप-इस जाप में केवल जुबान हिलती है, होंठ नहीं हिलते। यह बाहर सुनाई नहीं देती। उपांशु जाप से जपने वाले को पचास प्रतिशत लाभ होता है।

मानस जाप-जिस जाप में न होंठ हिलें न जुबान हिले, केवल चिंतन हो। जैसे-बच्चा स्कूल से नहीं लौटा, समय हो चुका। उसकी माँ विचार करती है-'कहाँ गया होगा? कहाँ रुक गया? कैसे नहीं आया? वह कुछ बोलती नहीं, केवल चिंतन करती है। इस प्रकार

जाप करना मानस जाप कहलाता है। इस जाप से पचहत्तर प्रतिशत लाभ होता है।

सूक्ष्म जाप-इस विधि को मुनिजन ही जान सकते हैं, अन्य नहीं। णमोकार आदि मंत्र की एक पंक्ति बोल चुके, अब चुप बैठो समताभाव से, फिर दूसरी पंक्ति बोलो। इस प्रकार बीच में समताभाव से निश्चल होकर बैठें तो असंख्यात कर्मों की निर्जरा होती है। बीच में समताभाव से निश्चल शान्त बैठो, जब विकल्प आने लगे तो फिर आगे की पंक्ति बोलो। बीच में जो समताभाव से चुप बैठे, वह निर्विकल्प दशा है।

महानुभाव! श्रावक-क्रम क्रम से ऊँची सीढ़ी पर पहुँचता है और साधक को प्रायःकर के बोल-बोलकर जाप करने की इतनी आवश्यकता नहीं पड़ती, जाप करते समय उसके होंठ भी नहीं हिलते।

जब साधक जाप से आगे बढ़ जाता है तब ध्यान और तप में लीन हो जाता है। ज्ञान में लीन, ध्यान में लीन और तप में लीन। ज्ञान के किसी एक बिंदु में चित्त की एकाग्रता हो जाना ध्यान बन जाता है और चित्त को रोककर के एक में लगाना, यह रुकने की प्रक्रिया तप हो जाता है। तप के जिनागम में बाह्य रूप से छः प्रकार हैं। अनशन, ऊनोदर, वृत्ति परिसंख्यान, रस परित्याग, विविक्तिशय्यासन और कायक्लेश।

अनशन-अन्न जल आदि चार प्रकार के आहार का, विषय-कषाय का अनियत काल के लिये या सुदीर्घ काल के लिये त्याग करना अनशन है।

ऊनोदर-अनशन में तो सब कुछ त्याग कर दिया किंतु ऊनोदर में अपने उदर से कम भोजन लेना। भूख लगी है चार रोटी की किंतु एक या दो ही रोटी लेना या कभी एक ग्रास ही लेना। अपनी इंद्रियों को कसना जिससे इन्द्रियाँ उच्छृंखल न हों और पुनः यह देखना कि

मैं शरीर की शक्ति से नहीं जी रहा मैं अपनी आत्मा की शक्ति से जी रहा हूँ। जब साधक बुद्धि पूर्वक व्रत-उपवास करता है तो आत्म शक्ति जागृत होती है वह होता है ऊनोदर।

वृत्ति परिसंख्यान-आहार करते में नियम लेना कि इतनी ही वस्तु लूँगा, इससे ज्यादा नहीं। बहुत सारी खाद्य सामग्री में से कुछ का त्याग करके कुछ वस्तु को नियत कर लेना, अथवा आहार के लिए जाते समय कुछ नियम, विधि आदि लेना कि अमुक गली, मौहल्ला, घर, वस्तु आदि से पड़गाहन होगा तो ही आहार ग्रहण करूँगा। ऐसा करके वह स्वयं को कस रहा है और आत्म शक्ति को प्रकट कर रहा है।

रस परित्याग-षट्रस भोजन को ग्रहण न करके नीरस अथवा कुछ ही रसों को ग्रहण करना।

विविक्तिशय्यासन-साधक जो भी साधना कर रहा है या जप कर रहा है उस समय एक आसन लगाकर बैठा है उसे शरीर के कष्ट का कोई अहसास नहीं, अथवा एकांत में जाकर विभिन्न प्रकार के योगों द्वारा तन-मन को एकाग्र करके साधना करना।

कायक्लेश-सर्दी में नदी किनारे, गर्मी में धूप में खड़े होकर, वर्षा काल में वृक्ष के नीचे खड़े होकर तप करना, शरीर को कष्ट दे रहे हैं किंतु वे शरीर को ही कष्ट दे रहे हैं इससे आत्मा तो पुष्ट हो रही है। वे शरीर की क्षमता को नापते हैं कि मैं कितना सहन कर सकता हूँ जिससे मेरे परिणामों में समता बनी रहे। तो यह कायक्लेश तप है।

ऐसे ही छः अंतरंग तप होते हैं। प्रायश्चित, विनय, वैय्यावृत्ति, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान।

प्रायश्चित्त-किसी भी भूल-चूक या अपराध होने पर, व्रतों में

दोष लगने पर गुरु से निवेदन करके प्रायश्चित लेना, गुरु जो कुछ भी कहे उसे श्रद्धा से स्वीकार करना। अंतरंग में शुद्धि का भाव आना, उस दोष को परिहार करने का भाव आना चाहिये केवल जाप लगाने से प्रायश्चित नहीं होता उस दोष के परिहार का भाव होना ही सच्चा प्रायश्चित है।

विनय-जब तुम तपस्वी बने तब गुणवत्ता आने पर अंतरंग से झुकाव आना चाहिये। यह विनम्रता सहज गुण है जिसे तपस्वी तपता है। उस तपस्वी को आक्रोश नहीं आता, अहंकार नहीं आता।

वैय्यावृत्ति-जब वह तपस्वी शुद्ध होता है, विनम्र होता है तो सेवा करने का भाव आता है।

स्वाध्याय-कभी मन इधर-उधर जाता है तो वह तपस्वी अपने मन को एकाग्र करने के लिये स्वाध्याय करता है, तत्त्व चिंतन करता है।

व्युत्सर्ग-इसके उपरांत वह तपस्वी कायोत्सर्ग करके शरीर से ममत्व त्यागकर दण्ड की भांति खड़ा हो जाता है। वह शरीर में रहते हुये भी शरीर मे नहीं रहता आत्मा में लीन होता है।

ध्यान-जब वह कायोत्सर्ग दीर्घकालीन हो जाता है तो ध्यान कहलाता है।

महानुभाव! ये जप और तप दोनों ही मोक्षमार्ग में चलने के लिये दो कदम हैं इनके माध्यम से श्रावक और साधक परम्परा से मोक्ष को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। हम और आप सभी जप व तप को अपनी शक्ति अनुसार अवश्य करें। आप सभी का शुभ हो, मंगल हो, कल्याण हो।

"जैनं जयतु शासनं"

"जुबान की मिठास"

महानुभाव! संसार में अनादिकाल से अनंत पदार्थ दृष्टिगोचर होते रहे हैं, आज भी दृष्टिगोचर हो रहे हैं और अनंत काल तक दृष्टिगोचर होते रहेंगे। संसार में जिस पदार्थ का जैसा स्वभाव है, वह उस स्वभाव से युक्त है। आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी जी ने समयसार में लिखा है-**"सव्वत्थ सुन्दरो लोए"** संसार में सब सुन्दर ही सुन्दर है, अच्छा ही अच्छा है क्योंकि आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी की गुणग्राहक दृष्टि रही, उसी दृष्टि को लेकर उन्होंने समयसार लिखा। एक वीतरागी दृष्टि होती तब कहते संसार जो जैसा है वैसा है अच्छा भी नहीं, बुरा भी नहीं अपेक्षा सबकी अलग-अलग है। वही वस्तु किसी अपेक्षा से अच्छी होती है तो दूसरी अपेक्षा से बुरी, वही वस्तु किसी अपेक्षा से छोटी अथवा बड़ी होती है, मीठी भी लग सकती है तो किसी अपेक्षा से फीकी भी लग सकती है।

संसार में सब पदार्थ हैं, व्यक्ति अनुकूल को पहले ग्रहण करता है प्रतिकूल को बाद में। चाहे वह शब्द हों, चाहे स्थान हो, चाहे भाव हों, चाहे काल हो चाहे अन्य कोई पर्याय हो। जो उसे अनुकूल दिखाई देती है उसे ग्रहण करता है प्रतिकूल को वह छोड़ना चाहता है।

जगत में, व्यवहार में माध्यम बनता है 'शब्द'। बिना शब्द के हम अपने व्यवहार को विस्तृत नहीं कर सकते। भावों को भी शब्दों में प्रस्तुत करते हैं, भावों को शब्दों की पोशाक पहनाकर के एक दूसरे से आदान-प्रदान करते हैं। यदि शब्द माध्यम न हों तो हम अपने भावों को आप तक नहीं कह सकते, आप अपने भावों को हमसे नहीं कह सकते। जो दिवंगत दिव्यात्मायें हैं उन्होंने अपने भावों को शब्द रूप करके शास्त्रों में लिखा उन शब्दों से हम उन भावों तक पहुँचने की कोशिश करते हैं। उनकी शब्द ध्वनि हमें बहुत सारे भावों को बताने में समर्थ होती है।

शब्द कैसे हों? शब्द प्रभावी हों, उद्देश्य को पूर्ण करने वाले हों, सुखद हों, शांतिप्रिय हों, स्वपर के हितकारक कल्याणकारक हों। आचार्यों ने कहा-हित-मित-प्रिय वचन बोलो, वह वचन ही सुख देने वाले होते हैं, शांतिप्रद होते हैं। कर्कश, रुक्ष, परुश, निंद्य ये वचन संसारवर्धक, दुखद, क्लेशकारक, युद्धकारक होते हैं, इसीलिये कहा-

"प्रियवाक्यप्रदानेन, सर्वं तुष्यन्ति जन्तवः।
तस्मात् तदैव वक्तव्यं, वचने का दरिद्रताः॥"

प्रिय वाक्य बोलने चाहिये, उससे सभी प्राणियों को सुख-शांति मिलती है। अप्रिय वाक्य मत बोलो क्योंकि कोई भी अप्रिय वाक्य नहीं सुनना चाहता। प्रिय वाक्य मधुर होते हैं, कोई कहे कि मधुर कैसे होते हैं? वाक्य तो वाक्य हैं शब्द हैं, मधुर तो अन्य वस्तुयें होती हैं। एक समय किसी सम्राट ने अपने मंत्री से पूछा-मंत्री महोदय! संसार में सबसे प्रिय वस्तु क्या है? उन्होंने कहा-राजन्! पहले आप सभी सभासदों से पूछ लें क्योंकि जब मैं उत्तर देता हूँ तो लोगों को ईर्ष्या होती है। किसी ने कहा गुड़ मीठा होता है? तो किसी ने शक्कर को मीठा बताया, तो किसी ने कहा मिशरी सबसे मीठी होती है, किसी ने कहा अमृत सदा मीठा होता है, इस प्रकार सबने अलग-अलग बात कही।

राजा ने मंत्री से कहा-अब आप बताईये, मंत्री बोला-महाराज! मेरी दृष्टि में सबसे मीठी चीज होती है **वाणी**। वह बहुत मृदु होती है उससे ज्यादा मीठा और कोई नहीं माना जा सकता। अच्छा! अगर वाणी मीठी होती है तो बताओ संसार में सबसे मीठा फल कौन-सा होता है? महराज! मेरी दृष्टि में सबसे अच्छा फल **सब्र का फल** है। अच्छा! तो ये बताओ संसार में जल कौन सा शुद्ध होता है? महाराज! आप पहले सभी सभासदों से पूछ लें, तो किसी ने कहा गंगाजल, किसी ने यमुना का जल सबने अलग-अलग बताये। मंत्री ने कहा मेरी

दृष्टि में सबसे शुद्ध होता है **नयन का जल**। राजा ने पूछा सबसे उत्कृष्ट प्रकाश कौन सा होता है? कोई कहता है दीपक का, कोई कहता सूर्य का, कोई कहता चंद्रमा का, कोई अन्य विद्युत प्रकाशों को अच्छा बताता किन्तु जब उस महामंत्री से पूछा तो उन्होंने कहा-महाराज! मेरी दृष्टि में सबसे उत्कृष्ट प्रकाश **ज्ञान का प्रकाश** होता है। पुनः राजा ने पूछा-सबसे अच्छा भोजन कौन सा होता है? सबने कहा-अमृत का भोजन जो देव करते हैं वही सबसे अच्छा होता है, कुछ कहते हैं शाकाहारी भोजन अच्छा होता है, कोई कहता है अन्न फल या जल का भोजन अच्छा होता है। महामंत्री ने कहा-महाराज! मेरी दृष्टि में सबसे अच्छा भोजन कोई है तो वह है **माँ का दूध**।

राजा ने कहा-चलो! ये सब बात तो ठीक है अब ये बताओ सबसे अच्छा रंग कौन सा होता है? महाराज! मेरी दृष्टि में सबसे अच्छा रंग यदि कोई है तो वह है **भक्ति का रंग**। अच्छा! अब ये बताओ सबसे अच्छी भाषा कौन सी है? किसी ने कहा हिंदी, किसी ने संस्कृत, किसी ने प्राकृत, किसी ने अंग्रेजी सबने अलग-अलग बात कही, महामंत्री ने कहा-महाराज मेरी दृष्टि में सबसे अच्छी भाषा **प्रेम की भाषा** होती है। पुनः राजा ने पूछा सबसे अच्छा दिन कौन सा है? सबने अलग-अलग उत्तर दिये किसी ने कहा दीपावली का दिन सबसे अच्छा दिन होता है, किसी ने कहा जन्मदिवस सबसे अच्छा दिन होता है, कोई कहता है वह दिन अच्छा है जिस दिन मेरी शादी हुयी थी, कोई वार की अपेक्षा कहता कि सोमवार शुभदिन है, कोई रविवार को शुभ दिन कहता तो कोई मंगलवार को ही मंगलमय दिन मानता है। महामंत्री ने कहा-मेरी दृष्टि में सबसे अच्छा **आज का दिन** है।

राजा ने फिर से प्रश्न किया कि सबसे अच्छा स्थान कौन सा है? किसी ने कहा मंदिर ही सबसे पवित्र स्थान है, कोई कहता मस्जिद, तो कोई कहता नदी या पर्वत सबसे अच्छे स्थान हैं तो कोई कहता तीर्थ क्षेत्र सबसे अच्छे स्थान हैं तब महामंत्री ने उत्तर दिया-महाराज! मेरी दृष्टि में सबसे पवित्र स्थान है **हृदय।** किन्तु अन्य सभी सभासदों को ये उत्तर पसंद नहीं आये। तब राजा ने कहा मंत्रीवर! आपने ये सब बातें कहीं इन्हें सिद्धकर बताओ। मंत्री ने कहा-ठीक है आपको जिसका चाहे उसका प्रमाण देकर मैं बता सकता हूँ। सबसे पहले आपने कहा कि सबसे अच्छा मीठा वाणी का मीठा होता है। हाँ महाराज! मुझे तो यही लगता है चाहे आप कितने भी मीठे फल क्यों न खा लें यदि कोई एक भी अपशब्द बोल दे तो आपका क्रोध सातवें आसमान तक पहुँच जायेगा।

अपशब्द इतने कड़वे लगते हैं कि उनकी कड़वाहट का स्वाद जीवनभर तक आता है। कोई व्यक्ति आपको मीठा न खिलाये भूख होने पर रूखी रोटी भी खिलाये किन्तु बड़े प्यार से मीठे शब्द बोलकर खिलाये तो मीठे बोल नि:संदेह ऐसी छाप छोड़ते हैं कि ता उम्र याद रहते हैं उसकी मिठास आती रहती है, ऐसा लगता है कानों में मिशरी घुल रही हो। महाराज! वाणी का मीठा सबसे अच्छा है। आप अपने सभासदों को भोजन पर बुलायें मीठा खिलायें बाद में यदि कोई गाली दे दे तब सभासद आपके विरुद्ध हो जायेंगे आपकी खिलायी हर प्रकार की मिठाई बेकार हो जायेगी और आपने यदि सामान्य प्रीतिभोज भी दिया है और प्रेमपूर्वक शब्दों से खिलाया है तब सामान्य भोजन भी अमृत से अच्छा हो जाता है।

महाराज! आपने फल के बारे में प्रश्न किया तो मैंने उत्तर में सब्र का फल सबसे उत्कृष्ट कहा क्योंकि अन्य सभी फल तो सड़ जाते हैं, अन्य सभी फल शुष्क होते हैं, खट्टे, कड़वे होते हैं वृक्ष पर

लगते हैं टूटकर गिरते हैं वे सभी बाह्य हैं, पराधीन हैं किन्तु सब्र का फल स्वयं के वृक्ष अर्थात् आत्मा में उत्पन्न होता है वह सबसे मीठा होता है। सब्र करो फल स्वत: मीठा होगा, कई बार उतावलेपन में कार्य बिगड़ जाते हैं सब्र करने से काम बन जाता है। बना हुआ काम ही सुखद है इससे ही जीवन सुखद होता है इसीलिये मैंने कहा सब्र का फल ही उत्तम है।

महाराज! जल के बारे में आपने पूछा तो मैंने कहा नयनों का जल सबसे शुद्ध होता है क्योंकि राजन्! अन्य जलों में भले ही जलचर जीव हों किन्तु अश्रुओं में कोई जलचर जीव नहीं होता। अश्रु परमप्रीति का प्रतीक होते हैं, वे आँसू ऐसे नहीं निकलते जब अंदर से परमप्रीति हो, गहरा दु:ख हो, गहन लगाव हो या परम आनंद की अनुभूति हो रही हो तब आँखों में सहज आँसू निकलते हैं इसीलिये मैंने कहा आँखों का जल सबसे शुद्ध है।

महाराज! आपने प्रकाश की बात पूछी-तो मैंने कहा ज्ञान का प्रकाश सर्वोत्कृष्ट है क्योंकि सूर्य-चन्द्र का प्रकाश तो बाह्य जगत् को प्रकाशित करता है उस पर भी बादल छा जाते हैं किंतु ज्ञान का प्रकाश ऐसा है जो लोक और अलोक को दर्शाने में समर्थ होता है।

पवित्र स्थान की बात आपने पूछी-महाराज, मैंने कहा हृदय। क्यों हृदय सबसे पवित्र है इसीलिये क्योंकि प्रभु परमात्मा को सभी अपने हृदयकमल पर स्थापित करते हैं अन्य कहीं नहीं।

राजन् जब आपने सर्वश्रेष्ठ भोजन के विषय में पूछा तो मैंने उत्तर दिया माँ का दूध क्योंकि वह संसार में आए नवजात शिशु के संवर्द्धन व संरक्षण का कारण है, अनेक रोगों से लड़ने की क्षमता प्रदान करता है।

महाराज! आपने रंग की बात कही तो मेरी दृष्टि में भक्ति का रंग सबसे अच्छा रंग है। भक्ति का रंग जिस पर चढ़ जाता है फिर उसे

कुछ भी दिखाई नहीं देता है। सब कुछ नीरस होता है जैसे वैराग्य के बल के सामने सभी बल निर्बल हो जाते हैं ऐसे ही भक्ति का रंग सबसे बड़ा है।

राजन्! जब आपने भाषा की बात पूछी तब मेरी दृष्टि में यही आया कि सबसे अच्छी भाषा प्रेम की भाषा है अन्य भाषायें अन्य जन समझें या न समझें किन्तु प्रेम की भाषा ऐसी है जिसे अपने और पराये सब समझते हैं। प्रेम की भाषा ऐसी है कि एक छोटे से बालक को बुलाओ तो वह भी प्रेम से खिंचकर अपने आप चला आता है। प्रेम की भाषा ऐसी है कि पशु-पक्षी को भी बुलाओ तो वे भी आ जायेंगे, प्रेम की भाषा ऐसी है कि वृक्षों को भी सुनाओ तो उनपर भी फूल आ जायेंगे। महाराज! प्रेम की भाषा अपनों को तो ठीक है अपने शत्रुओं को भी प्रिय लगती है और कुछ भाषा अपनों के साथ-साथ शत्रुओं को भी अप्रिय लगती हैं। इसीलिये महाराज मैंने कहा कि सबसे अच्छी भाषा यदि कोई होती है तो प्रेम की भाषा होती है।

महाराज आपने पूछा-सबसे अच्छा दिन कौन सा है? तब महाराज मेरा कहना है कि आज का दिन सबसे अच्छा है, इससे अच्छा दिन दूसरा नहीं हो सकता। वर्तमान ही महत्वपूर्ण है। भूतकाल की बात करें तो वह मृत है भूत है उसमें जीने वाला व्यक्ति अपनी उन्नति नहीं कर सकता, भविष्य की बात करें तो वह दिवा स्वप्न है। स्वप्नों में जीने वाला वर्तमान के आनंद का अनुभव नहीं कर सकता है इसीलिये सबसे अच्छा दिन वर्तमान का दिन है।

महानुभाव! इसीलिये यहाँ कहा कि जुबान मीठी है तब नि:संदेह सब जग तुम्हें मीठा ही मीठा प्रतीत होता है क्योंकि जो व्यक्ति इष्ट मिष्ट और शिष्ट वचन बोलते हैं उन्हें कभी कर्कश, निंद्य, परुश और वद्य वचन सुनने को नहीं मिलते। जो मनचाहा बोलता है उसे जीवन में अनचाहा सुनना पड़ता है। यदि तुम्हारी आदत प्रियवचन बोलने की

नहीं है तब अपने कानों को सावधान कर लो कर्कश वाणी सुनने के लिये। यदि तुम कर्कश वाणी सुनना नहीं चाहते हो, तुम्हारा मन भी कहता है कि कोई मुझसे मिष्ट भाषा बोले, इष्ट और शिष्ट वचन बोले, प्रकृष्ट शब्दों का प्रयोग करे तब नि:संदेह हमें भी उस प्रकार के शब्दों का प्रयोग करना पड़ेगा क्योंकि संसार का व्यवहार है नमक के बदले में मिशरी कहीं नहीं मिलती। यदि तुम नमक देते हो तो तुम्हें भी नमक ही मिलेगा और मिशरी देते हो तो मिशरी मिलेगी। पुष्प देने से तुम्हें भी खुशबू मिलेगी और सामने वाले को भी खुशबू मिलेगी किंतु काँटे देने से तुम्हारे हाथ भी लहुलुहान होंगे और जिसको दोगे उसके भी लहुलुहान होंगे। मेंहदी देने से आपके हाथ भी रचेंगे सामने वाले के हाथ भी रचेंगे, कोयला देने से आपके हाथ भी काले होंगे सामने वाले के हाथ भी काले होंगे।

इसीलिये संसार का व्यवहार तो कुँए की तरह से है कुँए के समीप में खड़े होकर के जैसी भाषा बोलते हैं वही भाषा लौटकर के हमारे कर्णगोचर होती है।

हमारा मन क्या चाहता है? आपका-हमारा-सबका मन यही चाहता है कि हम मीठी भाषा बोलें और मिष्ट भाषा ही सुनें। सभी हमसे प्रियता से बोलें, हम भी आपसे यही कहना चाहते हैं कि आप भी सभी से प्रिय बोलें, सभी से 'जी' लगाकर बोलें। चाहे भले ही रोटी पर घी लगायें या नहीं लगायें, चलेगा किन्तु जब भी किसी से बोलें तो 'जी' अवश्य लगा लें। जब जी लगाकर बोलते हैं तो उसका जी तुमसे लग जाता है, जब जी लगाकर नहीं बोलते हैं, जब तूकारी भाषा बोलते हैं तब अपने भी हमसे दूर होने लगते हैं, किनारा करने लग जाते हैं। इसीलिये जितना काम रोटी पर लगाया हुआ घी नहीं करता है उससे ज्यादा काम 'जी' कर जाता है।

चाहे भले ही रोटी पर घी लगाकर मत खिलाओ पर जी लगाकर के बोलोगे तो सूखी रोटी भी बड़े प्यार से खायेगा। और आपने जी लगाकर नहीं बोला खड़ी भाषा में तू तड़ाक करके बोल दिया तो पूड़ी खीर भी उसके सामने रखोगे तो वह कहेगा इसने मुझे ऐसे खिला दिया जैसे कोई अहसान कर दिया हो। इसका अमृत समान भोजन अपमान के साथ जहर सा बन गया। अरे! सम्मान के साथ जहर भी पिला देता तो मैं पी लेता। कम से कम अपमान तो नहीं करता।

मान सहित विष खायके, शंबू भये जगदीश।
बिना मान अमृत पिये, राव कटायो शीश।।

मान-सम्मान के साथ तो जहर भी होता है वह अमृत का काम कर जाता है, अपमान जनक शब्दों से अमृत भी जहर जैसा बन जाता है इसीलिये अपने शब्द जब भी बोलें सम्हाल कर बोलें।

आप जितने कोमल, मृदु, ऋजु होते चले जाते हैं सामने वाला आपके सामने पानी-पानी होता चला जाता है। आप गरम हैं तो सामने वाला भी गरम हो जायेगा, आप नरम हैं तो सामने वाला भी नरम हो जायेगा, आप मीठे हैं तो सामने वाला भी मीठा नजर आयेगा, आप कड़वे हैं तो आपको सामने वाला भी कड़वा दिखाई देगा।

हम आपसे बस इतना कहना चाहते हैं कि जुबान की मिठास संसार की सबसे बड़ी मिठास है, इस मिठास के सामने कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जो आपको संतुष्ट कर दे। क्योंकि शब्दों की कड़वाहट जीवन में उतना अनर्थ कर सकती है जितना अनर्थ अस्त्र-शस्त्र भी नहीं कर सकते। जीवन में भगवान् की भक्ति जिन मीठे शब्दों से करते हैं ऐसे वचन अपने सामने आये व्यक्ति से भी बोलो। जब तुम सामने वाले को अच्छा बोलते हो, मीठा व प्रिय बोलते हो, आदर सम्मान के साथ बोलते हो तब तुम्हारे वैसे शब्दों

को सुनकर के संभव है प्रभु परमात्मा संतुष्ट होता है और जब प्रभु परमात्मा के सामने ललित शब्दों में स्तुति-भक्ति गाते हो तो दुनिया को अच्छा लगता है।

जब तुम भगवान् के सामने झुकते हो, उनकी भक्ति करते हो तो दुनिया को तुम अच्छे लगते हो किन्तु जब दुनिया के सामने झुकते हो, दुनिया से मीठे शब्द बोलते हो तब तुम्हारे प्रभु परमात्मा को भी अच्छा लगता होगा। महानुभाव! तुम्हारी आत्मा, प्रभु परमात्मा को भी यही अच्छा लगता है इसीलिये जीवन में किसी को खुश करो या न करो कम से कम अपनी आत्मा को तो ना खुश मत करो। तुम अच्छा बोलो, अच्छे कार्य करो, अच्छा सुनो, अच्छा सोचो यही वास्तव में कल्याण का मार्ग है। आप सभी का शुभ हो, मंगल हो इन्हीं सद्भावनाओं के साथ अपनी शब्द श्रृंखला को विराम देता हूँ।

"जैनं जयतु शासनं"

दोषवादे च मौनं

महानुभाव! आचार्यों ने लिखा है आत्मकल्याण के लिये श्रवण करो। क्या श्रवण करो? श्रमण के सर्वांग से या मुख से समुद्गत जो वाणी है या दिव्यध्वनि है अथवा जो आत्मकल्याण का उपदेश है उसे सुनो। बिना सुने तो कल्याण नहीं होता। जितने भी जीव आत्महित को प्राप्त हुये हैं उन्होंने हितकर वाणी को सुना है। चाहे माता-पिता के हितकर उपदेश को सुना, चाहे गुरुजनों के हितकर उपदेश को सुना, चाहे संत पुरुषों की वाणी को सुना, चाहे जिनवाणी के अमृतोपम/दिव्यवचन को सुना, चाहे अपनी अन्तर्आत्मा की आवाज को सुना। सुनने से आत्महित शीघ्र होता है। सुनना अन्दर तक सीधे जाता है और वह अपनी प्रतिक्रिया दिखाता है, जैसे दूध में पड़ी हुयी नींबू के रस की बूँद शीघ्र ही अपनी प्रतिक्रिया दिखा देती है, घास में पड़ी हुयी अग्नि की चिंगारी शीघ्र ही अपनी प्रतिक्रिया दिखा देती है, सब्जी में पड़ी हुयी नमक की डली अपनी प्रतिक्रिया दिखाकर के अपना स्वाद उसे दे देती है ऐसे ही शब्द जब अन्दर में जाते हैं तो अपनी प्रतिक्रिया दिखाते हैं अपना प्रभाव दिखाते हैं।

बोलने से संभव है हित मंद गति से हो किन्तु सुनने से हित तीव्र गति से होता है। बोलना है क्योंकि आज हमारे पास बोलने की शक्ति है किन्तु कम बोलना है। बोलने वालों की संख्या ज्यादा है इसीलिये बोलने वालों का महत्त्व कम है, सुनने वालों की संख्या कम है इसीलिये सुनने वालों का महत्त्व ज्यादा है। आप सोच रहे होंगे कि ये तो उल्टा कह रहे हैं संसार में वक्ता कम हैं श्रोता ज्यादा हैं किन्तु नहीं जैन दर्शन कहता है कि बोलने की सामर्थ्य तो दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय सब में होती है किन्तु सुनने की सामर्थ्य केवल पंचेन्द्रिय जीवों की होती है उन्हीं के

पास कर्ण होते हैं। बोलना संसार के बहुत से जीव जानते हैं किन्तु बोलना क्या है इसे विरला ही जानता है।

सुनने वाले जीव भी संसार में बहुत हैं किन्तु सुनना क्या है इसे बहुत कम लोग जानते हैं। सुनो उसे जिससे तुम्हारे परिणाम निर्मल हों, सुनो उसे जिससे तुम्हारी कषायें शांत हों, सुनो उसे जिससे तुम्हारा मन पापों से विरक्त होने लगे, सुनो उसे जिससे तुम्हारी इन्द्रिय विषयों के प्रति आसक्ति कम हो जाये, सुनो उसे जिससे आपके मन में दूसरों के प्रति उपकार करने की भावना जागे। सुनो उसे जिससे आपका मन प्रभु भक्ति और गुरु सेवा में लग जाये, सुनो उसे जिसे सुनकर रात में आपको अच्छी नींद आये। ऐसा न हो दिन में भी बैचेनी बनी रहे और रात भी खराब हो जाये। अच्छी बातें सुनो जिससे स्वप्न भी अच्छे-अच्छे आयें, बुरी बात मत सुनो बुरी बात सुनने से दिन भी खराब होता है और रात भी खराब होती है।

जो व्यक्ति दिन में अच्छे-अच्छे शब्दों को सुनता है और अपने श्री मुख से अच्छे-अच्छे शब्द बोलता है उसे रात्रि में सुख की नींद आती है। और आप जानते हैं नींद भी एक छोटी मृत्यु है। यदि दिन में कोई गलत काम किया है तो दिमाग में वह बात घूमती रहती है फिर नींद नहीं आती। दुष्चिंताओं का जाल बुनता चला जाता है नींद गोल हो जाती है। दिन में यदि बुरा किया है, बुरा सोचा है, बुरा बोला है, बुरा सुना है तो रात खराब हो जाती है रात की नींद खराब हो जाती है अर्थात् छोटी मृत्यु खराब हो जाती है। ऐसे ही जीवन दिन के समान है, जिसने दिन रूपी जीवन में कोई बुरा काम किया है, बुरा काम सोचा है, बुरा शब्द बोला है, बुरा सुना है तो उसकी मृत्यु बिगड़ जाती है वह उत्तम समाधि को प्राप्त नहीं कर पाता। दिन में बुरा काम करोगे तो रात खराब होगी, जीवन में बुरा काम करोगे तो मृत्यु खराब होगी।

आप वैसे तो बड़े समझदार हैं जब कोई आपकी गली में फल सब्जी बेचने वाला आता है तो आप छाँट-छाँट कर अच्छे-अच्छे फल सब्जी लेते हैं, आप सोचते हैं जब हम सामने वाले को फल सब्जी का पूरा मूल्य दे रहे हैं तो जो थोड़ी खराब फल सब्जी है उसे हम क्यों खरीदें ऐसे ही जब तुम्हारे शब्दकोष में अच्छे-अच्छे शब्द बोलने के लिये हैं तो बुरे शब्दों का प्रयोग क्यों करते हो। दो नोट आपके सामने हों एक नोट तो बड़ा नया सा करारा सा है और दूसरा नोट बहुत गंदा काला हो गया है किसी ने उसे सिकोड़कर रख दिया, वह गंदे कागज की तरह दिख रहा है किंतु-कहीं से फटा नहीं है दोनों नोटों का मूल्य अभी बराबर है यदि आपको संयोगवशात् देने की आवश्यकता पड़े तो आप पहले कौन से नोट को देंगे? खराब वाले को देंगे, अच्छे वाले को क्यों नहीं देंगे? माना अच्छा वाला नोट 2000/रु. का है तो क्या वह 2100 में चल जायेगा? और खराब वाला 2000 का नोट क्या 1900 में जा रहा है? नहीं वह भी हम 2000 के बदले ही दे रहे हैं। जब दोनों का मूल्य बराबर है तब भी आप उस गंदे-सड़े-खराब नोट को जल्दी निकालने की कोशिश करेंगे। ऐसे ही वह फेरी वाला है जो फल सब्जी थोड़ी खराब सी है उसे पहले बेचेगा अच्छी वाली को बाद में, और ग्राहक क्या करेगा? अच्छी वाली को पहले लेने की कोशिश करेगा, आप भी जब लेना चाहेंगे तो अच्छे नोट को पहले लेना चाहेंगे खराब को नहीं।

महानुभाव! ऐसे ही जब आपके शब्द कोष में अच्छे शब्द हैं तब अच्छे शब्दों का प्रयोग क्यों नहीं करते। अच्छे शब्दों का प्रयोग करने में जीभ घिसती नहीं है, जीभ में छाले नहीं पड़ते और बुरे शब्दों का प्रयोग करने से जीभ कोई मोटी नहीं हो जाती, जीभ में से कोई अमृत नहीं झरने लगता। अच्छे शब्दों से आपके व्यक्तित्व की पहचान होती है कि आप अच्छे हैं और बुरे शब्दों का प्रयोग करते हैं तो मालूम चलता है कि आप बुरे हैं। जो जैसा होता है उसका व्यवहार वैसा

ही होता है। पुष्प सुगंधित होता है तो वह दूसरों को सुगंध ही देता है और लहसुन बदबूदार होता है तो दूसरों को बदबू ही देता है। मिश्री का नाम सुनते ही मुख में पानी आने लगता है और इमली का नाम लेते ही मुँह खट्टा सा होने लगता है। तो अच्छे शब्द आपके जीवन में मिश्री का काम करते हैं, सुगंधित पुष्पों का काम करते हैं, बुरे शब्द सामने वाले के जीवन में प्याज की बदबू की तरह, काँटों की तरह चुभने वाले होते हैं। बुरे शब्दों से व्यवहार करना कोयले के व्यापार के बराबर है और अच्छे शब्दों का व्यवहार करना मेहंदी बाँटने के बराबर है। जो महिला मेहंदी बाँटती है उसके हाथ भी रच जाते हैं और जो कोयला देता है उसके हाथ भी काले हो जाते हैं।

महानुभाव! शब्द बोलें, शब्दों की कोई कमी नहीं है। और एक बात ध्यान रखना नोट आपकी जेब में रखे हैं आपने अच्छा नोट निकाल दिया तो अच्छा नोट अब दुबारा नहीं आयेगा वो तो चला गया किन्तु ऐसा शब्दों के साथ नहीं है आपने किसी को श्री लगाकर के, जी लगाकर के बड़े प्यार से बोला तो ऐसा नहीं कि आपकी सामर्थ्य शक्ति खत्म हो गयी उन्हें दुबारा नहीं बोल सकते। अच्छे, प्रिय, मीठे शब्दों को सौ बार भी बोलो तो भी खत्म नहीं होते वरन् संस्कार और अच्छे आ जाते हैं इसीलिये अच्छे शब्द बोलने का प्रयास करो उससे अच्छे शब्दों का शब्दकोष और बढ़ता चला जाता है। जो व्यक्ति गंदे शब्दों का प्रयोग करता है उसकी भाषा बिगड़ जाती है, उसका व्यक्तित्व बिगड़ जाता है, उसका व्यवहार बिगड़ जाता है और तो और वह व्यक्ति ही बिगड़ जाता है।

"दोषवादे च मौनं" ऐसा नीतिकारों ने, आचार्यों ने लिखा है कि जब भी दोषों का वर्णन चल रहा हो उस समय मौन हो जाओ। आचार्य कुलभद्र स्वामी जी ने लिखा-

प्रियवाक्यप्रदानेन सर्वे तुष्यन्ति जन्तवः।
तस्मात् तदैव वक्तव्यं वचने का दरिद्रता॥

प्रिय वाक्य सबको संतोष देने वाले होते हैं और कड़वे वचनों से कष्ट होता है। तो हमेशा ही प्रिय वाक्य बोलना चाहिये क्योंकि वचनों में दरिद्रता कैसी? कितने भी अच्छे वचनों का प्रयोग करो तब भी कभी गरीबी नहीं आती, वचनों का कोष कभी खाली नहीं होता।

आप कभी भी किसी की निंदा मत करो। न कभी परमात्मा की निंदा करो, जो व्यक्ति परमात्मा की निंदा करते हैं उन्हें जीवन में परमात्मा का प्रसाद, परमात्मा की कृपादृष्टि प्राप्त नहीं होती। हम देखते हैं कई लोगों की तो आदत पड़ गई है वे कहते हैं, भगवान् तू अन्यायी है मुझे गरीब बना दिया, मुझे रोगी बना दिया, मेरे साथ ऐसा कर दिया, दिन-रात परमात्मा को कोस रहे हैं, वे अपने पापों की निंदा नहीं करते कि मैंने बुरे कार्य किये हैं उन्हीं का मुझे फल मिल रहा है बल्कि भगवान् को कोस रहे हैं। कोई संत-महापुरुष आ जायें तो ऐसा पुरुषार्थ नहीं करेंगे कि हम इतने काबिल बनें कि महात्मा का स्नेह-वात्सल्य हमें प्राप्त हो जाये बल्कि जिसे प्राप्त हो रहा है उसकी निंदा करेंगे। ये महात्मा जी तो अमीरों को ही आशीर्वाद देते हैं गरीबों को नहीं, उन्हें ही समय देते हैं हमें नहीं, ये कभी नहीं कहेंगे कि हम उनके पास कभी जाते नहीं, सेवा करते नहीं, हममें ऐसी योग्यता नहीं है। जैसे बालू कलश बनने के योग्य नहीं है वह कहे कि यह कुंभकार पक्षपाती है मिट्टी का तो घड़ा बना देता है मेरा नहीं, मैं भी तो बहुत मजबूत बालू हूँ। किंतु चिकनी मिट्टी में घड़ा बनने की योग्यता है इसीलिये कुंभकार घड़ा बना रहा है। बालू के द्वारा कुंभकार की निंदा करना व्यर्थ है। ऐसे ही दुर्जन व्यक्तियों का कार्य है निंदा करने का। सज्जनों को इससे कोई फर्क नहीं पड़ता।

जो अपने अंदर योग्यता प्रकट नहीं कर सकता वह निंदा ही कर

सकता है और निंदा करने से कभी योग्यता प्रकट होती नहीं है इसीलिये काबिल बनें, तुम्हें स्वयं ही वह पुरस्कार प्राप्त हो जायेगा। मैं समझता हूँ निंदा करना ही सबसे बड़ा पाप है। **"निंदकः हि महाभारः।"** पृथ्वी पर निंदक ही सबसे बड़ा बोझ है। पृथ्वी पर्वतों के बोझ से नहीं दबती, सागरों के बोझ से नहीं दबती, पृथ्वी पर उपस्थित इतने वृक्ष, पशु, मानव आदि हैं पर इन सबका पृथ्वी को किंचित् भी अहसास नहीं होता। जैसे कोई माँ अपने बेटे को गोद में ले ले तो माँ उस बेटे को गोद में लेकर थकती नहीं है उसे लाड़-प्यार-दुलार करती है उस माँ को आनंद आता है किंतु उस माँ को कोई अपशब्द कह दे तो अपशब्द का बोझ ऐसा लगता है जैसे हृदय पर कोई पत्थर रखा हो। अपमान का बोझ बहुत बड़ा बोझ होता है। यदि कोई उसके बेटे की निंदा या अपमान कर दे, तो वह शत्रु ऐसा है जो माँ के हृदय पर बोझ बनकर रहता है।

ऐसे ही पृथ्वी पर बोझ वही है जो निंदा करता है। निंदा करने वाला व्यक्ति कोई भी क्यों न हो। आज कुछ विद्वान् समझते हैं हम बहुत बड़े विद्वान् हो गये? उन्होंने तो जैसे साधुओं की निंदा करने का ठेका ही ले लिया हो। वे समझते हैं निंदा करके हमारी Quality बहुत बढ़ जायेगी किन्तु सच्चा विद्वान् वह है जो कभी किसी की निंदा नहीं करता। निंदा करने वाला कभी योग्य नहीं होता। वह जिसकी निंदा कर रहा है समझ लेना उसमें कोई गुण अवश्य है **"लोग उसी की बात करते हैं जिसमें कोई बात होती है।"**

यदि सामर्थ्य है तो सामने वाले से कहो तुम्हारी ये गलती है इसे सुधारो, पीछे निंदा करने से, पत्राचार करने से कभी धर्म की प्रभावना नहीं होती, आत्मा का कल्याण नहीं होता। इसीलिये कभी निंदा नहीं करो, न किसी धर्मात्मा की, न किसी साधर्मी की, न कभी देव-शास्त्र-गुरु की, किसी की भी निंदा मत करो। 'दोषवादे च मौनं।'

एक बार किसी नगर में एक दूसरे देश का व्यक्ति भ्रमण करता हुआ आया। सही जानकारी प्राप्त न होने पर वहाँ के राजा ने उसे अपराधी समझ मृत्युदंड दे दिया। निर्दोष होने पर भी मृत्युदंड प्राप्त कर वह विदेशी बहुत क्रोधित हुआ और क्रोधावेश में राजा को अपशब्द कहने लगा। विदेशी की भाषा अलग होने से राजा समझ नहीं पाया कि उसने क्या कहा? राजा का मंत्री बहुभाषाविद् था। राजा ने अपने मंत्री से पूछा कि बताओ ये क्या कह रहा है। सभी परिस्थिति को समझने वाला वह मंत्री बोला 'राजन्! यह आपके सुख-शांतिमय शासन व आपके दीर्घ मंगलमय जीवन की कामना कर रहा है।'

राजा का दूसरा मंत्री वहीं उपस्थित था तथा वह भी विद्वान् और कई भाषाओं का जानने वाला था। प्रथम मंत्री की बात सुन उससे ईर्ष्या रखने वाला वह मंत्री बोला "नहीं, महाराज!" ये मंत्री झूठ बोलते हैं। आप जिन्हें अपना विश्वास पात्र समझते हैं वे ही आपको भ्रम में रख रहे हैं। ये व्यक्ति आपके मंगल की कामना नहीं कर रहा अपितु आपको भला-बुरा कह रहा है। ऐसे अपशब्द बोल रहा है जैसे किसी सेवक से गलती हो जाने पर कभी कोई बोल देता है। वे शब्द तो मैं आपको बता भी नहीं सकता।

यह सब सुन महाराज ने सच जानने की अपेक्षा से प्रथम मंत्री की ओर देखा। महाराज के भावों को समझ मंत्री की निगाहें झुक गयीं और क्षमा माँगते हुए बोला महाराज! द्वितीय मंत्री जी ठीक कह रहे हैं, इस व्यक्ति ने आपके मंगलमय जीवन की कामना नहीं की बल्कि अपशब्द कहे मंत्री की बात सुन राजा कुछ सोच में पड़ गया पुनः बोला 'मंत्रीवर! आपने इस निर्दोष विदेशी को बचाने की भावना से मुझसे झूठ बोला। मेरे माध्यम से कोई अन्याय ना हो इसीलिए तुमने सत्य छिपाया। मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूँ।'

पुनः विदेशी की ओर देखते हुए राजा ने कहा-मैं तुम्हें दण्ड मुक्त

करता हूँ। एक राजा के प्रति व्यक्ति को इतना क्रोध तभी आ सकता है जब उसके साथ अन्याय हो रहा हो। फिर दूसरे मंत्री से कहा 'मंत्री जी! आपने राजा, राज्य या विदेशी किसी के विषय में नहीं सोचा। मात्र आपको अवसर मिला पहले मंत्री को मेरे सम्मुख नीचा दिखाने का। आपके शब्द सही जरूर थे किन्तु भावों में थी ईर्ष्या की दुर्गंध।' यदि हर व्यक्ति एक-दूसरे की निंदा करेगा तो वहाँ उन्नति संभव नहीं। चले जाओ इस राज्य से, यहाँ ऐसे लोगों की आवश्यकता नहीं जो निंदा का कूड़ा-कचरा फैलाकर वातावरण विषैला करते हैं।

महानुभाव! व्यक्ति जिसकी निंदा कर रहा है उसका नुकसान हो या ना हो किन्तु निंदा करने वाले का नुकसान उसकी हानि तो नियत ही है। चाहे वह हानि उसके स्वयं के व्यक्तित्व की ही क्यों ना हो। दूसरों की निंदा करने वाले स्वयं निंदनीय हो जाते हैं कहा भी है-

तुलसी जे कीरति चहहिं, पर की कीरति खोय।
तिनके मुँह मसि लागहैं, मिटहि न मरिहै धोय॥

और भी कहा है-

काहू को न निन्दिये, चाहे जैसा होय।
फिर फिर ताको बन्दिये, साधु लच्छ है सोय॥

व्यक्ति कैसा भी हो किन्तु उसकी निंदा कर पापार्जन व समय नष्ट करने की बजाय अच्छे, गुणी या साधु व्यक्ति की प्रशंसा बार-बार करो।

जो निंदा नहीं करता है वह निःसंदेह धर्मात्मा होता है सज्जन होता है, लोकप्रिय होता है स्वपर के कल्याण करने में निमित्त होता है इसीलिये हम आपसे केवल इतना कहना चाहते हैं कि जीवन में कोई पुण्य का कार्य करो या न करो, कोई धर्म की साधना करो या न करो, कोई बात नहीं किंतु जीवन में कभी किसी की निंदा मत करो।

"जैनं जयतु शासनं"

माँगो मत जागो

महानुभाव! जहाँ तक हम दृष्टि फैलाकर के देखते हैं, इस दृश्यमान संसार में दो प्रकार के प्राणी मिलते हैं। एक प्राणी वे जो हमेशा देने का भाव रखते हैं और एक प्राणी वे जो हमेशा लेने का भाव रखते हैं। लेन और देन ये दोनों क्रियायें एक साथ होती हैं, जब कोई एक लेने वाला होता है तो एक देने वाला भी होता है। लेने वाले के बिना देने वाला दे नहीं सकता और देने वाले के बिना लेने वाला ले नहीं सकता।

आप कहेंगे लेने वाला तो चोरी से भी ले सकता है, देने वाले ने नहीं दिया। किन्तु जब देने वाले के पास वस्तु थी तभी तो उसने ली, भले ही उसका देने का मन नहीं था। जो भी है लेन-देन की क्रिया तो हुयी। लेन-देन भी दो प्रकार का है। एक ग्रहण करता है सोते हुये, अर्थात् मिथ्यात्व के साथ। दूसरा ग्रहण करता है जागते हुये। सोते हुये लेना और सोते हुये देना दोनों ही संसार का कारण हैं, जागते हुये लेना जागते हुये देना दोनों ही मोक्ष का कारण हैं। सोते हुये लेने का आशय संसारी प्राणी निरंतर कर्मों को ग्रहण करता चला जा रहा है और निरंतर पौद्गलिक वस्तुओं को ग्रहण करता चला जा रहा है।

जो पौद्गलिक वस्तुओं को राग भाव से ग्रहण कर रहा है, हितकर मानकर ग्रहण कर रहा है, अच्छा मानकर ग्रहण कर रहा है वह मानिये सोते हुये ग्रहण कर रहा है। दूसरा व्यक्ति जो सांसारिक पौद्गलिक वस्तु देकर के ही खुश हो रहा है वह भी सोता हुआ है। एक जागा हुआ व्यक्ति होता है वह कहता है मुझे देना है, क्या देना है? जो मेरे पास मेरे पुण्य के उदय से सहजता में प्राप्त हो उसे मुझे देना है। क्योंकि मेरे पास पर्याप्त से ज्यादा है इसीलिए देना है, दूसरी बात ये है जब पर्याप्त है तब भी देना है क्योंकि आज के लिये मेरे

पास है अब आगे के लिये मुझे नहीं चाहिये मेरे भाग्य में जो होगा सो देखा जायेगा। दूसरा व्यक्ति कहता है ये वस्तु मुझे चाहिये जागा हुआ व्यक्ति अपनी पर वस्तु को, पौद्गलिक वस्तु को भी देता है और वैभाविक परिणति को भी छोड़ना चाहता है।

एक व्यक्ति पाकर के खुश है, एक व्यक्ति देकर के खुश है। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जिन्हें भोजन करा दिया तो वे खुश हैं कुछ व्यक्ति वह हैं जो दूसरों को भोजन कराके खुश हैं। एक व्यक्ति दूसरों का उपकार करके आनंदित है दूसरा व्यक्ति दूसरों का उपकार पाकर के आनंदित है। संसार में ऐसे व्यक्ति अधिक हैं जो ग्रहण करना चाहते हैं पाना चाहते हैं, ऐसे व्यक्ति कम हैं जो देना चाहते हैं। प्रभु परमात्मा के सामने प्रार्थना करके तुमने कोई वस्तु माँगी, अपने मित्र से कोई वस्तु माँगी, किसी और व्यक्ति से वस्तु माँगी या चोरी की या याचना की कुछ भी किया यदि उस वस्तु को भोगने का आपके पास पुण्य नहीं है तो उस वस्तु को तुम भोग नहीं सकोगे, प्राप्त करके भी वस्तु नष्ट हो जायेगी और भोगने का पुण्य है तो वस्तु आपके पास आयेगी ही आयेगी उसे कोई रोक नहीं सकता।

बिना पुण्य के पुण्य का फल नहीं मिलता और पुण्य है तो उस पुण्य के फल को कोई छीन नहीं सकता। खेत में पौधा नहीं लगाया तो फल कहाँ से आयेगा और फल प्राप्त तुम्हें होना है इतना पुरुषार्थ तुमने किया है तो भले ही खेत में वृक्ष नहीं लगाया कोई व्यक्ति तुम्हें आकर फल दे जायेगा तुम उसको भोग सकोगे।

महानुभाव! जैन दर्शन में सम्यक्त्व के आठ अंगों में एक निःकांक्षित अंग आता है अर्थात् कांक्षा मत करो। अपने कर्त्तव्य का पालन करो, अपने धर्म का, संयम का, चारित्र का पालन करो, गुरु सेवा करो, प्रभु भक्ति करो, तीर्थ यात्रा करो, जाप करो, स्वाध्याय करो, शील का पालन करो सब कुछ करो परंतु उसका फल मत

माँगो। क्यों? क्योंकि माँगने से भिखारी बन जाओगे, आप कहेंगे हमने किया सो? उसका फल तो तुम्हें मिलेगा। ग्राहक दुकानदार को पैसा देता है अब ग्राहक को वस्तु माँगनी नहीं है दुकानदार स्वयं कहेगा वस्तु लो। दुकानदार ने वस्तु दी तो ग्राहक स्वयं पैसा निकालकर दे देगा। यदि वस्तु नहीं दी तो ग्राहक पैसा नहीं देगा, बिना वस्तु लिये पैसा क्यों देगा? और पैसा दिया है तो दुकानदार ऐसा नहीं कह सकता कि वस्तु नहीं मिलेगी। वह वस्तु देगा ही देगा। ऐसे ही जब हमने यथानुकूल पुरुषार्थ किया है तब पुण्य का फल मिलेगा, हम माँगकर भिखारी क्यों बनें, भगवान् के सामने भिखारी क्यों बनें? हम भावना ऐसी क्यों भायें कि हे भगवान्! हमारा शरीर ठीक कर दो, हमें स्वास्थ्य लाभ मिल जाये, हे भगवान्! हमें पुण्य का फल मिल जाये, हे भगवान्! हमें यश मिल जाये, हे भगवान्! हमें ऐसी अवस्था प्राप्त हो जाये तो यह सब कुछ क्यों माँगो। गृहस्थ लोग भगवान् से माँगते हैं मेरा घर का मकान कब होगा, मेरा व्यापार अच्छा कब चलेगा, मुझे अमुक-अमुक वस्तु कब मिलेगी ये माँग क्यों रहे हो? क्योंकि जब तक उतना पुण्य इकट्ठा नहीं होगा तब तक मिलेगा नहीं और पुण्य इकट्ठा हो जायेगा तो वह बिना माँगे मिल जायेगा।

भावना भी भानी है तो जीवन में भिखारी बनने की क्यों भाओ। दाता बनने की भावना क्यों न भाओ। ऐसे कई पुरुष हुये जिनसे दूसरों का कष्ट देखा नहीं गया और उन्होंने अपने तन का वस्त्र, अपनी थाली का भोजन तक दे दिया। उन्होंने भगवान् से ये नहीं कहा कि इसको कुछ दे दो, उन्होंने कहा भगवान् आपने मुझे दिया है मैं इसको देता हूँ। इसीलिये जब भी प्रभु परमात्मा की पूजा-भक्ति करो तो माँगो मत। वैदिक परम्परा में भी निष्काम भक्ति की बात कही। गीता का उपदेश भी आप सभी जानते हैं कर्म किये जा फल की इच्छा मत कर, फल तेरे पीछे-पीछे अपने आप आ जायेगा। और फल की इच्छा करेगा तो सम्यक् कर्म नहीं कर पायेगा। इच्छा ही पाप है, इच्छा

करते हुये अच्छा कार्य करना भी उतने पुण्य का कारण नहीं हो सकता, इसीलिये कभी इच्छा मत करो, वांछा मत करो। वांछा करने से भिखारी बनते हैं तो दान देने की भावना से दाता बनते हैं। यदि एक बार माँगने की आदत पड़ गयी तो जिंदगी भर माँगते ही रहोगे और एक बार देने की आदत पड़ गयी तो जिंदगी भर देते ही रहोगे।

संभव है प्रकृति भी उस व्यक्ति को वैसा ही बना देती है जैसा वह होता है। माँगते रहोगे तो जीवन माँगते-माँगते ही निकल जायेगा, दाता बनोगे तो जिंदगी भर देते ही रहोगे, देने के लिये कभी कमी नहीं आयेगी।

एक महानुभाव प्रातःकाल अपनी गाड़ी साफ कर रहे थे तभी पड़ोसी ने दरवाजा खोला और देखा वाह! साहब आप नयी गाड़ी कब ले आये, अभी तक तो साइकिल से घूमते रहे आज तुम्हारे द्वार पर नयी गाड़ी, कब लाये, कितने की लाये। उसने कहा-मुझे नहीं पता गाड़ी कितने की आती है? तो भैया क्या कहीं से चोरी करके लाये हो? नहीं भाई! चोरी करके नहीं लाया। बात दरअसल में ये है कि मेरा एक छोटा भाई है, मेरे पिता जी बहुत समय पहले दिवंगत हो गये मैंने अपने स्वयं का ख्याल न रखते हुये बैंक में छोटी सी नौकरी की और छोटे भाई को पढ़ाया-लिखाया। माँ भी बहुत समय तक हमारे साथ नहीं रह सकी और वे भी दिवंगत हो गयीं। छोटे भाई को पढ़ाने के लिये ईमानदारी पूर्वक जो कर सकता था वह सब किया, प्रभु से प्रार्थना की, कि ये बड़ा व्यक्ति बने, इसे अच्छी नौकरी मिले। मैं बैंक में चपरासी की नौकरी करता रहा, नंगे पैर बरसों रहा, दो जोड़ी कपड़ों से काम चलाता रहा, साइकिल से जाता कभी पैदल जाता किंतु मेरा छोटा भाई पढ़-लिख कर योग्य बन गया और जब वह अपनी नौकरी पर पहुँचा तो सरकार की ओर से उसे बंगला भी मिला और गाड़ी भी मिली। उसने कहा मेरा बड़ा भाई पैदल चले,

जिसने मुझे पढ़ाया है माता-पिता दोनों का दायित्व निभाया है मैं उसके उपकार को भूलकर के गाड़ी में बैठूँगा मैं ऐसा नहीं कर सकता। सरकार से गाड़ी मिली वह तो अलग है। उसने लॉन लेकर एक गाड़ी खरीदी और पहले अपने बड़े भाई को दी। तो ये गाड़ी उसने मुझे भेंट दी है।

पड़ोसी कहता है काश! मेरे पास भी एक ऐसी गाड़ी होती तो मुझे भी कितना आनंद आता, तो वह कहता है ऐसा क्यों कहते हो, कि मेरे पास ऐसी गाड़ी होती ये क्यों नहीं कहते काश! मेरे पास भी एक ऐसा भाई होता। तभी कोई संत पुरुष जो वहाँ से निकल रहे थे, दोनों की बातों को सुना उन्होंने कहा-यदि तुमने भगवान् से गाड़ी माँगी तब भी भिखारी हो, और तुमने परमात्मा से भाई माँगा तब भी भिखारी हो अगर भगवान् से कुछ कहना ही है तो वास्तव में यह कहो कि मैं एक ऐसा दाता बनूँ जो सबको गाड़ी बाँट सकूँ।

हम भी भगवान् के सामने चाहे गाड़ी माँगी या भाई माँगकर बने तो भिखारी ही। हम जब भगवान् से प्रार्थना ही कर रहे हैं तो ये भावना क्यों नहीं भा सकते कि हम एक अच्छे दाता बनें। हमने सुना है चक्रवर्ती किमिच्छिकदान देते थे उनके द्वार पर जो आ जाये उसे मुँह माँगा दान देते थे, हमने सुना है दानवीर कर्ण के बारे में जिन्होंने कर्ण कुण्डल भी दान में दे दिये, शायद आपको पन्नानरेश छत्रसाल के बारे में ज्ञात होगा उनकी माँ ने जब उनसे पूछा-बेटा छत्रसाल तू बहुत दान देता है, बता गर ये सामने वाला मदारटूंगा नाम का पहाड़ पूरा स्वर्णमय हो जाये तो तेरे लिये कितने दिन का काम चल जायेगा, उसने कहा माँ यदि आप मुझसे सही पूछती हो तो मैं तो उसे एक जुबान में दे सकता हूँ फिर ले जाने वाला कब तक ले जाये ये उस पर निर्भर करता है।

इसी तरह जब भावना देने की होती है तब देने वाला देता है। तुम

कभी किसी के दु:ख में आनंदित मत होना हो सकता है प्रकृति यह देखकर के कि इसे दु:ख में आनंद आता है कहीं तुम्हें दु:ख ही न दे दे। इसीलिये दूसरों की खुशी में आनंदित होना तो तुम्हें खुशी मिल सकती है। एक छोटा बालक अपने माता-पिता के साथ बाजार में गया, उसने देखा कि एक अंकल उसके प्रति स्नेह की दृष्टि से देख रहे हैं और तभी अंकल ने एक डिब्बा खोला और उसके सामने रखते हुये कहा बेटा इसमें से टॉफी ले लो, बालक ने मना कर दिया, उसके माता-पिता ने भी कहा बेटा टॉफी ले लो पर बेटे ने मना कर दिया, फिर बाद में उन अंकल ने वे टॉफी उसकी सभी जेबों में भर दी, दोनों हाथों में भर दी उसने टॉफी ले ली। घर आकर के माता-पिता ने पूछा-बेटा! उस समय जब हम सबने कहा था डिब्बा भी सामने रख दिया था तब भी आपने टॉफी क्यों नहीं ली। बेटा बोला-अंकल मुझे देना चाहते थे उनका पूरा मन था, किंतु यदि मैं अपने हाथ से लेता तो अपने छोटे-छोटे हाथों से दो-चार टॉफी ही ले पाता और जब उन्हें देना ही है तो उन्होंने 20-30 टॉफी अपने हाथों से दे दीं। ऐसे ही जब हम भगवान् से माँगते हैं तो छोटा सा माँग पाते हैं, देने वाला हमें बहुत कुछ देना चाहता है इसीलिये जीवन में माँगने की परम्परा कम करो।

माँगों मत जागो, जो जाग जाता है वह कभी माँगता नहीं है वह तो त्यागने की भावना रखता है, माँगने की भावना नहीं रखता। आप और हम सभी त्याग की भावना रखें, जागने की भावना रखें माँगने की परम्परा से मुक्त रहें।

"जैनं जयतु शासनं"

अच्छे को अच्छा

महानुभाव! संसार में अच्छाई और बुराई दोनों समान रूप से हैं। जिस प्रकार नदी के दो तट जब से नदी होती है तब से ही होते हैं कोई भी तट पहले से भी नहीं है और कोई तट बाद में नहीं है। कोई पूछे नदी के इस तट की उम्र कितनी है, किसी ने बताया सौ वर्ष, और सामने वाले तट की? उसकी भी सौ वर्ष ही होगी। दोनों साथ-साथ चलने वाले हैं। जिस प्रकार किसी पक्षी का जन्म होता है, उसके पंख निकलते हैं दोनों पंख समान होते हैं। कोई दीवार है उसके दोनों सिरे समान होते हैं, कोई सिक्का है उसके दोनों पहलुओं की उम्र बराबर की होती है, मनुष्य के दो पैर होते हैं दोनों पैर लगभग समान होते हैं। ये नहीं कह सकते कि पहले दायाँ पैर आया बाद में बायाँ पैर आया।

इसी तरह से संसार में अनादिकाल से अच्छाई और बुराई है। कोई कहे संसार में बुराई पहले आयी, गलत, कोई कहे संसार में अच्छाई पहले आई तब भी कहना गलत है। क्योंकि अच्छाई और बुराई एक ही सिक्के के दो पहलु हैं। ये अच्छाई-बुराई अनादिकाल से हैं इसीलिये इस अच्छाई-बुराई को धारण करने वाले लोग भी अनादिकाल से हैं। किसी भी समय में पृथ्वी अच्छे लोगों से खाली नहीं हुयी और किसी भी समय में पृथ्वी बुरे लोगों से खाली नहीं हुयी। यह अवश्य है कि जिसकी दृष्टि अति निर्मल है उन्हें संसार में बुरे व्यक्ति नहीं दिखते, और जिसकी दृष्टि अत्यंत मलिन है उसे संसार में अच्छे व्यक्ति नहीं दिखते। किन्तु अच्छाई और बुराई शाश्वत विशेषता हैं उसे ग्रहण करने वाले व्यक्ति हर काल में, हर क्षेत्र में होते हैं।

अच्छे व्यक्ति की पहचान यही है कि जिसके कर्म अच्छे हों, जिसके वचन अच्छे हों, जिसकी दृष्टि अच्छी हो, जिसके विचार अच्छे हों, जिसका व्यवहार अच्छा हो, इसके साथ-साथ उसकी

वर्गणायें भी अच्छी हों, क्योंकि जब व्यक्ति अच्छा होता है तब उसकी वर्गणायें वैसी ही निकलती हैं। यदि कोई मणि श्याम वर्ण की है अथवा कोई रत्न धवल वर्ण का है तो उसकी कांति उसी वर्ण की होगी। यदि पन्ना रत्न को टॉर्च पर रखें तो उसमें से हरी कांति निकलती है, मूँगा में से लाल कान्ति, हीरे में से धवल, पुखराज में से पीत, नीलम में से नीली कांति निकलती है तो जिसमें जो है वही निकलती है। अच्छाई का फल अच्छा होता है। यह शाश्वत सत्य है कि जैसा बीज होता है वैसा ही वृक्ष होता है, इसे कभी नकारा नहीं जा सकता। इस बात को आबाल वृद्ध सभी जानते हैं कि मिट्टी से स्वर्ण के आभूषण नहीं बनाये जा सकते और सोने के माध्यम से मिट्टी के बर्तनों का निर्माण नहीं हो सकता। अच्छाई से व्यक्ति अच्छा बनता है और अच्छा बनने वाला व्यक्ति अच्छे फल को प्राप्त करता है। बुराई से व्यक्ति बुरा बनता है और बुरे फल को प्राप्त करता है। तत्काल में भले ही अच्छाई-बुराई का फल न मिले किन्तु जब भी मिलेगा तो अच्छाई का अच्छा, बुराई का फल बुरा ही मिलेगा।

एक छोटी सी बात आपको बतायें जिससे आपको अच्छे से समझ में आ जाये। महिलायें रसोई बनाने में चाहे कितनी ही कुशल क्यों न हों किन्तु बाजरे के आटे से गेहूँ की रोटी नहीं बना सकती। और गेहूँ के आटे से बाजरे की रोटी नहीं बनायी जा सकती। जैसा कारण होता है कार्य भी वैसा ही होता है इसीलिये अच्छे बनने के इच्छुक महानुभाव अच्छाई की ओर ध्यान दें, बुराई को तिरोहित कर दें। जिस व्यक्ति के मन में अच्छाई और सच्चाई नहीं वह पूरी दुनिया को देख ले तो भी उसे संसार में कोई अच्छा और सच्चा व्यक्ति मिलेगा नहीं।

जब तक हम अच्छाई और सच्चाई से स्वयं को दूर रखते हैं तब तक अच्छाई और सच्चाई मिलती नहीं। जिस क्षण अच्छाई और

सच्चाई को अपने चित्त में प्रकट कर लेते हैं तब ऐसा लगता है संसार में सब कुछ तो अच्छा है, सब कुछ तो सच्चा है मिथ्या कहाँ है? बुरा कहाँ है? इसीलिये अच्छाई और सच्चाई को खोजने के लिये दुनिया में जाने की आवश्यकता नहीं, अपने चित्त में प्रकट करने की आवश्यकता है।

महानुभाव! अच्छे का फल अच्छा मिलता है जरूर मिलता है, बुरे का फल बुरा मिलता है वह भी जरूर मिलता है। एक महात्मा नित्य ही किसी ग्राम में भिक्षावृत्ति करने आते, जहाँ से जो कुछ मिला मुस्कुराते हुये उसे ग्रहण कर लेते, किन्तु एक बात वे जरूर कहते थे कि बुरा किया तो तेरे साथ जायेगा, अच्छा किया तो उसका फल तेरे पास लौटकर जरूर आयेगा।

एक महिला उस महात्माजी को नित्य देखती और अपने घर के दरवाजे के पास बनी खिड़की पर वह एक रोटी बनाकर रख देती। वह महात्मा (फकीर) आता रोटी को उठाता उसके पहले यही कहता "बुरा किया तेरे साथ जायेगा, अच्छा किया हुआ तेरे पास लौटकर जरूर आयेगा।" महिला बार-बार यह वाक्य सुनती। एक दिन महिला को बहुत गुस्सा आया कि ये बार-बार यही कहता है और उस दिन उसने जो रोटी बनायी उसमें जहर मिला दिया, रोटी बनाकर के खिड़की पर रख दी थोड़ी देर बाद वह महात्मा आया, दूर से ही उसकी आवाज सुनाई दी-"बुरा किया तेरा पीछा नहीं छोड़ेगा, अच्छा किया तेरे पास लौटकर जरूर आयेगा।" महिला ने सुना तो उसका मन घबरा गया कि मैं इस जहर भरी रोटी से इसको मारना चाहती हूँ किन्तु मेरा बुरा किया मेरे साथ जायेगा कहीं इसकी बात सत्य हो गयी तो मेरा बुरा न हो जाये। मैं बुरे को कहाँ-कहाँ तक भोगूँगी जहाँ जाऊँगी वहीं मेरा बुरा हो जायेगा।

मनुष्य इन चर्म चक्षुओं से देख नहीं पाता कि फल कब कहाँ मिलता है। महिला ने अपना मन मसोसकर उस रोटी को उठा लिया दूसरी रोटी उस स्थान पर रख दी। वह फकीर वहाँ आया और रोटी लेकर पर्वत की चोटी पर बनी झोपड़ी पर पहुँचा, संयोग से वहाँ बहुत तेज बारिश होने लगी। अचानक एक बालक वहाँ पर आया, बारिश से भीगा वह बालक सुबह से भूखा-प्यासा और सर्दी से काँप रहा था। उसने फकीर से कहा कुछ खाने के लिये मिल जायेगा क्या? फकीर ने कहा-हाँ एक रोटी मेरे पास है, बालक ने वह रोटी खाई और वहीं सो गया। प्रात:काल वह उठा तो भिखारी के साथ उसी ग्राम में पहुँचा उस बालक ने उसी महिला के घर में प्रवेश किया, माँ ने देखा और अपने पुत्र को हृदय से लगा लिया। बेटे ने माँ से कहा-माँ कल मैं बारिश में फँस गया, गाँव तक नहीं आ पाया, यदि ये फकीर महात्मा कल मुझे रोटी नहीं खिलाते तो संभव है भूख के कारण तड़प-तड़प के मैं प्राण दे देता। माँ वह रोटी बिल्कुल आपके हाथ जैसी ही थी। इतना सुनते ही उस महिला ने फकीर के चरणों में माथा टेक दिया, कहने लगी आप नि:संदेह भगवान् हैं, आप सत्य ही कहते हैं अच्छाई का फल तेरे पास लौटकर जरूर आयेगा, बुराई तेरा साथ नहीं छोड़ेगी। यदि मैं आपकी इस बात को नहीं मानती और आवेश में आकर कल वह जहर मिली रोटी दे देती तो मैं बुराई का फल जिंदगी भर भोगती, मेरा बेटा मेरे हाथों से चला गया होता।

महानुभाव! व्यक्ति किसी आवेश में आकर कोई बुरा काम कर तो लेता है किन्तु बाद में इतना समय नहीं बचता कि उस बुराई के वृक्ष को काट दे। बुराई का वृक्ष बेशर्म की तरह से होता है एक बार बीज बो दो, ताउम्र काटते रहो वह खत्म नहीं होता। अच्छाई का बीज ऐसा है जो कई बार बोना पड़ता है कभी वह अंकुरित हुआ, नहीं हुआ कभी कोई पक्षी उसे उखाड़कर ले गया कुछ भी नहीं कह सकते। अच्छाई का फल मिलेगा तो सही किन्तु उसे बार-बार श्रम

करना पड़ता है। पुष्पों के लिये पुष्प वाटिका में नित पानी देना पड़ता है, रखवाली करनी पड़ती है और झाड़ झंकरों के लिये कुछ नहीं करना पड़ता वे स्वयं खड़े हो जाते हैं।

अनादिकालीन संस्कारों के वशीभूत हो करके हम बुराईयों को बाहर से इकट्ठा नहीं करते हमारे अंदर में ही इतनी सारी बुराईयाँ भरी पड़ी हैं कि उन बुराईयों से हम उबर नहीं पा रहे हैं। अनादिकाल के संस्कार बुराई के ही हैं इसीलिये अच्छाई हमें बाहर ही देखनी पड़ती है फिर अच्छाई को अन्दर में पैदा करना पड़ता है। अच्छाई भी पैदा हो सकती है, अच्छे कार्य करते जाओ अच्छा फल प्राप्त होता जायेगा। बुरे कार्य करने से कभी अच्छा फल नहीं मिलता।

लहसुन और प्याज में कितना भी प्रयास कर लो चंदन और गुलाब की महक नहीं आ सकती, हींग में से कपूर की गंध नहीं आती, कस्तूरी में से कस्तूरी की ही गंध आयेगी उसमें से कोई सोचे अन्य प्रकार की गंध आ जाये तो असंभव है ऐसे ही बुराई में से कभी अच्छाई की गंध नहीं आती और अच्छाई में से कभी बुराई की गंध नहीं आती। अच्छे व्यक्ति कभी बुरे व्यक्तियों के सम्पर्क में आ भी जायें तब भी वे अपनी अच्छाई छोड़ते नहीं। चंदन का एक टुकड़ा भी एक ट्रक भरी बबूल की लकड़ी के बीच में आ जाये तब भी अपनी पहचान खोता नहीं है, यदि एक हीरे का टुकड़ा भी काँच के ढेर में डाल दिया जाये तो काँच के ढेर में जाकर के वह हीरा काँच नहीं हो जाता।

जीवन में यह सदैव ध्यान रखो कि अच्छे व्यक्तियों के साथ सदा अच्छा व्यवहार करो किन्तु बुरे व्यक्तियों के साथ कभी बुरा व्यवहार मत करो। फिर? उनके साथ भी अच्छा ही व्यवहार करो। क्योंकि तुम्हारा अच्छा किया हुआ व्यवहार लौटकर के तुम्हारे पास अच्छा फल लेकर ही आयेगा। कबीर का दोहा आपको याद होगा-

जो तोकूँ काँटा बोएँ, ताय बोये तू फल।
तोएँ फूल के फूल हैं, बाकों है त्रिशूल॥

तुम्हारी अच्छाई का फल तुम्हें बुरा मिल ही नहीं सकता। जब कोई अंगना अपने हाथों द्वारा पिसी हुयी मेहंदी को बाँटती है तो बाँटते-बाँटते उसके हाथ रच जाते हैं, दूसरे को पुष्प भेंट करते समय स्वयं की नासा भी गंध से तृप्त हो जाती है, कोयला बाँटने से, काँटे देने से, दुर्गंध युक्त वस्तु देने से स्वयं भी उस बुराई से अछूते नहीं रहते। इसीलिये अपने पास अच्छाई को रखो। हीरे से हीरे को काटा जा सकता है, किन्तु कीचड़ से कीचड़ को धोया नहीं जा सकता, बुराई से बुराई को मिटाया नहीं जा सकता मिटाने के लिये अच्छाई चाहिये। ठंडे लोहे से ठंडे लोहे को भी काटा जा सकता है गर्म लोहे को भी। गर्म लोहे से न गर्म लोहा काटा जाता है और ना ही ठंडा। बुराई तो गर्म लोहे की तरह से है स्वयं दहकती हुयी है और दूसरों को जलाने में भी समर्थ होती है। मेरे चित्त की बुराई मेरा अनर्थ तो करती है सामने वाले का भी अनर्थ ही करेगी। और मेरे चित्त की अच्छाई मेरे लिये तो अच्छा करेगी ही करेगी और सामने वाले का भी अच्छा ही करेगी। इसीलिये आचार्यों ने लिखा है-

दुरंतं पाप-कर्माणां, विपाको ददाति कटुकं फलं

पाप रूप कर्म, विपाक के समय नियम से कड़वा फल ही देते हैं मीठा नहीं देते। नीम की निबोली कड़वी ही होती है चाहे कच्ची हो या पकी। अंगूर या गन्ना वह मीठा ही होता है चाहे आकार में छोटा हो या बड़ा। गन्ने में कटुकता नहीं आती और निबोली में मिष्टता नहीं आती ऐसे ही अच्छाई-बुराई का स्वभाव है।

"णिक्कंखिय-पुण्णं णियमेण होदि सुह-हेदू"

निष्कांक्षित पुण्य नियम से सुख का ही हेतु होता है। आचार्य

भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी जी ने लिखा है **"पुण्णफला अरिहंता"**
"पुण्णफला आइरिय-उवज्झाय-साहू अवत्था।"

पुण्य का फल अरिहंत, आचार्य, उपाध्याय, साधु अवस्था को देने वाला होता है। पुण्य का फल शिवमार्ग देता है इसीलिये सदैव अच्छे कार्यों में संलग्न रहो, बुराईयों से बचो।

अच्छाईयाँ देख ले तू सारे जहान की।
बुराईयों का कहीं कोई अन्त नहीं है॥

बुराईयाँ तो अनंत हैं बस उनमें से एक-एक अच्छाईयाँ छाँटना है। आप अच्छे बनो और सच्चे बनो। अच्छे और सच्चे व्यक्ति का कोई भी बाल बाँका नहीं कर सकता। आप सभी का मंगल हो, शुभ हो, कल्याण हो, इन्हीं सद्भावनाओं के साथ अपनी शब्द श्रृंखला को विराम देता हूँ।

"जैनं जयतु शासनं"

अंतराय कर्म

महानुभाव! प्रायः करके आप सभी लोग एक बात कहते हैं, न जाने जीवन में कौन से अंतराय कर्म का उदय आ गया सब कुछ ठीक चल रहा था, लाभ भी ठीक मिल रहा था किंतु अंतराय कर्म के उदय से अब लाभ में कमी आ गयी, तो कोई व्यक्ति कहता है पहले मुझे बहुत जल्दी याद हो जाता था किन्तु अब याद नहीं होता, लगता है ज्ञानावरणी कर्म का क्षयोपशम घट गया है, ज्ञानांतराय का उदय आ गया है। कोई कहता है दान में अंतराय का उदय आ जाता है, यह यथेच्छ लाभ को नहीं मिलने देता। जो सुफल को प्राप्त होने में बाधक बनता है, जो सुफल के लिये विघ्न उत्पन्न करता है चाहे दान हो, लाभ हो, भोग हो, उपभोग हो या शक्ति हो वह अंतराय कर्म है।

अंतराय कर्म पाँच जगह अपना काम करता है दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य। आप दान देना चाहते हैं किन्तु अंतराय कर्म का उदय ऐसा आता है लोग कहते हैं महाराज श्री चौका लगाये कई दिन हो गये किन्तु आचार्य महाराज तो ठीक है मुनिमहाराज तक का आहार नहीं हुआ। एक दिन किन्हीं क्षुल्लक जी, ऐलक जी महाराज का आहार हुआ था फिर तो किसी ब्रह्मचारी तक के भी आहार नहीं हुये। या कोई त्यागी-व्रती महाव्रती आ भी गये तो उनका अंतराय हो गया। हम भी चाहते हैं हमारे यहाँ निरन्तराय आहार हों हम भी गाजे-बाजे के साथ नगर में महोत्सव मनाते हुये प्रभावना करेंगे। किन्तु ऐसे कर्म का उदय आया उनका प्रथम ग्रास में ही अंतराय हो गया। अथवा व्यापार में लाभ प्राप्त होने वाला था, अन्य लोगों को लाभ मिला किंतु जब खरीदना था, तब मैंने न खरीदकर एक दिन बाद खरीदा इसीलिए वस्तु मुझे महँगी मिली, जब बेचना था तब सब लोगों ने बेचा मैं एक दिन बाद बेच पाया तब वस्तु मेरी कम दाम में

बिकी। वही वस्तु दूसरों के लिये लाभ देने वाली हो गयी और मेरे लिये हानिकारक हो गयी।

व्यापार में जब भी घाटा आता है तो बिना कर्मोदय के नहीं आता, लाभ में यदि अंतराय आया है तो लाभान्तराय कर्म का उदय है, दान में अंतराय आया है तो दानान्तराय कर्म का उदय है, भोग में अंतराय आया है तो भोगान्तराय कर्म का उदय है, उपभोग की वस्तु में अंतराय आया है तो उपभोगान्तराय कर्म का उदय है, शरीर की शक्ति क्षीण हो रही है तो वीर्यान्तराय कर्म का उदय है। आप देखते हैं एक व्यक्ति सामान्य सा भोजन करता है, रूखी-सूखी रोटी खाता है फिर भी उसमें बहुत कार्य करने की सामर्थ्य है, दूसरा व्यक्ति पौष्टिक भोजन करते हुये भी उसके शरीर में शक्ति का संचार नहीं हो रहा। एक व्यक्ति के जीवन में यथेच्छ भोग मिल रहे हैं, एक व्यक्ति के जीवन में यथेच्छ भोग मिले तो भोगने की सामर्थ्य चली गयी, जब सामर्थ्य थी तब भोग नहीं थे। एक व्यक्ति के जीवन में उपभोग की सामग्री-सामर्थ्य प्राप्त थी उसने सेवन भी किया, दूसरे को जब सामग्री थी तब सामर्थ्य नहीं थी, जब सामर्थ्य थी तब वस्तु नहीं थी।

महानुभाव! ये सब जीवन में क्यों होता है? इसीलिये होता है कि पूर्व में या वर्तमान में हमने अंतराय कर्म का अर्जन किया है, हमने किसी के किसी न किसी शुभ काम में अंतराय डाला है। जो दूसरों के कार्य में विघ्न पैदा करता है उसके कार्य में विघ्न नियम से पैदा होता ही होता है। जो दूसरों के लिये विघ्न पैदा नहीं करेगा तो उसके लिये विघ्न कहाँ से आयेगा।

एक घटना पढ़ी थी। एक व्यक्ति की नयी-नयी भर्ती पुलिस में हुई। जहाँ उसकी भर्ती हुई वहीं पास में एक जंगल था जहाँ पर डाकू अक्सर लोगों को लूट लिया करते थे। नगर का एक सेठ एक समय व्यापार कर वहाँ से आ रहा था। रास्ते में जंगल में लूट का डर उसे

ज्ञात था अतः दूसरे रास्ते से आने लगा। सेठ को एक पुलिस वाला मिला, सेठ ने उससे मदद माँगी, उस पुलिस वाले ने सेठ का पैसों का बैग लिया और वहाँ से भाग गया। सेठ बहुत दुःखी हुआ। उसकी जीवनभर की कमाई एक झटके में चली गई। गर्मी का समय था, भटकते-भटकते रास्ता पार कर एक गाँव में पहुँचा वहाँ एक पनिहारिन कुँए पर पानी भर रही थी। सेठ को प्यास बहुत जोर से लगी थी, सेठ ने पनिहारिन से पानी माँगा तो पनिहारिन ने मना कर दिया। सेठ ने इतना तक कह दिया कि पानी के बिना मेरे प्राण निकल जाऐंगे किन्तु उस स्त्री ने पानी नहीं दिया। अंततः सेठ ने तड़पते-तड़पते प्राण त्याग दिए।

उधर जो पुलिस वाला था इसी प्रकार लूट-पाट कर बहुत अमीर हो गया। कुछ महीनों बाद उसके यहाँ पुत्र का जन्म हुआ। अपने इकलौते पुत्र का लालन-पालन बहुत लाड़-प्यार से किया। बड़ा हुआ तो बेटे का विवाह सुंदर कन्या से किया। अचानक एक दिन बेटे का स्वास्थ्य बहुत बिगड़ गया। नगर-महानगरों के बड़े से बड़े हर डॉक्टर को दिखाया किन्तु उसका स्वास्थ्य गिरता ही जा रहा था। जिन्दगी भर कमाया गया धन बेटे के इलाज में खर्च हो गया। अब उसके पास कुछ नहीं बचा।

बेटे ने अपने पिता को आवाज लगायी बोला-"पिताजी! क्या आपने मुझे पहचाना?" पिता कहने लगा बेटा ये कैसी बात कर रहा है युवा ने फिर कहा "क्या आपने मुझे नहीं पहचाना" किन्तु अबकी बार चेहरे पर भाव-भंगिमा कुछ अलग थी। पिता ने फिर स्नेह से कहा "बेटा कैसी बात कर रहे हो?" युवा बोला-पिता जी! मैं वही हूँ जिसका धन से भरा बैग तुमने छीन लिया था जीवन भर की पूंजी छीन ली थी। मैं तो कर्ज चुकवाने आया था। अब तुम्हारे पास बिल्कुल धन नहीं बचा, मेरा कर्ज पूरा हुआ मैं चलता हूँ।

सामने बैठी पत्नी ये सब देख रोने लगी। युवा बोला-"तुम रोती क्यों हो? शायद तुमने भी मुझे नहीं पहचाना। पूर्व जन्म में मैं पानी माँगने तुम्हारे पास गया था, तुमने देने के लिए मना कर दिया। तब मैं जैसे प्यास से व्याकुल होकर मरा, अब तुम भी मेरे बिना अपना जीवन तड़प-तड़प कर व्यतीत करना।" पुनः माँ की ओर देखते हुए बोला-"माँ! तुम्हारी ऐसी कोई गलती नहीं, गलती इतनी है कि तुम्हारा पति जीवनभर अन्याय से कमाता रहा, लोगों को इसने दुःखी किया लेकिन तुमने इसे कभी रोका नहीं। अन्यायी का साथ देने वाला भी पापी ही होता है।"

महानुभाव! व्यक्ति जैसा करता है उसे वैसा ही मिलता है। अच्छे का फल अच्छा और बुरे का फल बुरा ही मिलता है। आज यदि किसी के माध्यम से कोई दुःख प्राप्त हो रहा है तो ना सही इस भव किन्तु पूर्व भव में कुछ-न-कुछ उसका बुरा किया ही होगा। कहा भी है-

"अपने कर्म सिवाय जीव को, कोई नहीं देता कुछ भी।
पर देता है यह विचार तज, स्थिर हो छोड़ प्रमादी बुद्धि॥"

कर्म हमारी आत्मा में है इसीलिये वे उदय में आते हैं, और कर्म आत्मा में नहीं हों तो उदय में नहीं आ सकते। जैसे किसी टंकी में पानी है तब तो टोंटी खोलने से निकल सकता है, नहीं है तो कैसे आयेगा। कुँए में पानी है तो बाल्टी डालने पर आ सकता है नहीं है तो कहाँ से आयेगा? इसी तरह से कर्म हमारी सत्ता में है तो उदय में आता है। बिना कर्म के उदय के हमें कर्म का फल नहीं मिलता। यदि हमें कर्म का फल मिल रहा है तो कर्म उदय में आया है चाहे वह पुण्य रूप आया या पाप रूप। पुण्य रूप आने से पुण्य फल मिला, पाप रूप आने से पाप फल मिला।

अंतराय कर्म सम्पूर्ण रूप से पाप प्रकृति है, घातिया कर्म है। ये

चारों घातिया कर्म (दर्शनावरणी, ज्ञानावरणी मोहनीय और अंतराय) सम्पूर्ण रूप से पाप प्रकृतियाँ हैं। अघातिया कर्म (वेदनीय, आयु, नाम गोत्र) पुण्य-पाप दोनों रूप होते हैं।

जीव अंतराय कर्म का आश्रव कैसे करता है? कैसे बंध करता है? कोई नहीं चाहता मेरे कारण अंतराय आये। कोई व्यक्ति कहता है आपकी तो राहु की दशा चल रही है, मंगल की दशा या शनि की दशा चल रही है, अरे! जिन व्यक्तियों का प्रबल पुण्य का उदय चल रहा है उनके जीवन में कोई भी दशा आ जाये तब भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता है और जिन व्यक्तियों के जीवन में पाप कर्म का उदय चल रहा है तो अच्छे ग्रह भी अच्छा फल नहीं दे पाते। हम अपने अंतराय कर्म से बचें, अंतराय कर्म को न बाँधे, जो अतीत में बाँध लिया उसका यदि क्षयोपशम नहीं कर सकते, उसे यदि नष्ट नहीं कर सकते तो बाँधने से तो बच सकते हो? हाँ बाँधने से बच सकते हैं किन्तु हम जानते तो नहीं हैं कि अन्तराय कर्म का आश्रव-बंध कैसे होता है, किन-किन कारणों से होता है यदि मालूम हो जाये तो संभव है हम बच भी सकते हैं।

आचार्य भगवन् नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने प्रकृति समुत्कीर्तन ग्रंथ में अंतराय कर्म के आश्रव के संबंध में लिखा है-

पाण-वधादिसु रदो, जिणपूया मोक्खमग्ग विग्घयरो।
अज्जेइ अतरायं, ण लहइ जं इच्छियं जेण॥161॥

जो भी इच्छित वस्तु है, उसे वह व्यक्ति प्राप्त नहीं करता जिसके जीवन में अंतराय कर्म का उदय चल रहा है। इच्छित वस्तु प्राप्त भी हो जाये किन्तु भोग नहीं सकता, सदुपयोग नहीं कर सकता। वस्तु वर्षों तक रखी रही हमारे पास किन्तु उसका सदुपयोग नहीं कर पाये, सामने वाले के पास वस्तु आयी और तत्काल ही प्रयोग किया व लाभ हो गया। किसी व्यक्ति के पास वस्तु थी तो खराब हो गयी,

नष्ट हो गयी, सामने वाले ने वस्तु रखी ही नहीं जैसे ही पुण्य का उदय आया वस्तु प्राप्त हो गयी। जैसे शंबूक कुमार ने 12 वर्ष तक तपस्या की किंतु सूर्यह्रास खड्ग उसे प्राप्त नहीं हो सका। वह खड्ग सामने उपस्थित है सप्त दिवस के उपरांत वह अपनी साधना का निष्ठापन करते हुये उस खड्ग को प्राप्त करता किंतु तभी लक्ष्मण वन विहार करते समय उधर से निकले, उन्हें नहीं मालूम ये खड्ग कैसा है। दिव्य खड्ग को देखते ही हाथ में ले लिया, उस खड्ग की परीक्षा के लिये खड्ग का प्रहार बाँस के झुंड पर किया और एक बार के प्रहार से ही बाँस का झुंड पूरा कट गया, न केवल बाँस उसमें साधना करने वाले शंबूक का सिर भी कट गया। शंबूक ने पूर्व में किसी की साधना में बाधा डाली होगी और लक्ष्मण ने पूर्व में किसी की साधना में सहयोग प्रदान किया होगा, उस सहयोग का फल उस समय नहीं लिया वह आज मिल गया और शंबूक का जीव जो किसी की साधना का फल छीन कर ले गया था तो आज उसे भोग नहीं पाया। जैसे कोई व्यक्ति इस भव में ऋण देता है तो अगले भव में उसे ऋण मिल जाता है और आज यदि ऋण लेकर के चला गया तो उसे अगले भव में चुकाना पड़ता है।

महानुभाव! यह विश्व का शाश्वत सिद्धान्त है हम किसी भी व्यक्ति के पुण्य और पाप कर्म का एक परमाणु भी भोग नहीं सकते। हम तब तक मोक्ष नहीं जा सकते, जब तक सामने वाले का कुछ कर्ज हमारे ऊपर है या हमारा उसके ऊपर है। जब भी हमारा कल्याण होगा दोनों का निपटारा हो जायेगा। चाहे वह उस कर्ज को चुकाने के लिये पशु बने गधा, घोड़ा, ऊँट, भैंसा, हाथी कुछ भी बने उसका चुकायेगा जरूर। यदि पंचेन्द्रिय नहीं बन पाया तो चाहे उसके खेत में जाकर एकेन्द्रिय वृक्ष बने पर चुकायेगा जरूर। वह अपने कर्म का फल भोगेगा जरूर और जिसने पुण्य किया है उसे पुण्य का फल

नियम से मिलेगा।

अंतराय कर्म का अर्जन करने वाला मूल कारण आचार्य ने बताया जो प्राणी वध आदि कार्यों में रत है, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँच पापों में जो लीन है, जिसे इन पापों में आनंद आता है, जो रौद्र ध्यान करने वाला है ऐसा व्यक्ति नि:संदेह अंतराय कर्म का बंध करता है। जैसे-यदि तुमने किसी के प्राणों का वियोग किया तो तुम्हारे प्राणों का भी वियोग होगा, किसी की वस्तु का वियोग किया तो तुम्हारी वस्तु भी चोरी होगी, किसी के लिये असत्य बोला, तुम्हारा असत्य उसके लिये दु:ख का कारण बना, उसका सुख नष्ट हुआ तो तुम्हारा सुख नष्ट होगा। यदि कुशील सेवन किया है जीव घात किया है या परिग्रह का संग्रह किया है तो दूसरों का जो हिस्सा तुमने छीन लिया है तो आगे तुम्हारा हिस्सा भी छिन जायेगा।

यहाँ आचार्य महाराज ने कहा जो प्राणी घात में रत हो, और जिनेन्द्रभगवान् की पूजा आदि मोक्ष के सहायक कार्यों में विघ्न पैदा करने वाला हो, भगवान् के दर्शन से किसी को रोकने वाला, भगवान् की पूजा-स्तुति-भक्ति-वंदना करने से रोकने वाला या पुण्य के किन्हीं भी कार्य में विघ्न डालने वाला हो यह कृत्य चाहे प्रत्यक्ष में हो या परोक्ष में पर तुमने अंतराय डाल दिया। आपने मंदिर का दरवाजा बंद कर दिया, ताला लगा दिया, चाबी अपने पास रख ली आप प्रात: आये नहीं जो लोग प्रात:काल दर्शन करने वाले थे, वे दर्शनार्थी बिना दर्शन किये लौट गये, या जो स्वाध्याय करने वाले थे आपने अल्मारी का ताला लगा दिया अब वे स्वाध्याय कैसे कर पायें। आपने अभिषेक पूजन करने वालों से दुर्व्यवहार किया आपको क्रोध आ गया आपने अपशब्द बोल दिये उनका पूजा करना छूट गया, मंदिर आना चाहते थे किंतु आपके कारण आ नहीं पाये। आप सोचते हैं मैं प्रतिदिन पूजा पाठ करने वाला हूँ क्या फर्क पड़ता है, किंतु नहीं

यदि आपने दूसरों के अभिषेक, पूजा-पाठ में बाधा डाली है तो जिंदगी भर पूजा पाठ करते रहो फिर भी तुम्हें अंतराय कर्म का बंध होगा, पुण्य का बंध कम पाप का बंध ज्यादा हो जायेगा, क्योंकि आपने विघ्न डाला है।

कई बार ऐसा देखने में भी आता है जो व्यक्ति सत्य से अनभिज्ञ होते हैं वे सत्य का मुखौटा पहनकर असत्य का पोषण भी कर देते हैं, पुण्य का मुखौटा लगाकर के पाप भी कमा लेते हैं इसीलिये विवेकी व्यक्तियों को चाहिये कि वे किसी के पूजादि कार्यों में विघ्न न करें, क्योंकि विघ्न करने से पाप ज्यादा होता है। पहले विघ्न करने का त्याग तो कर लो, पहले अपने शरीर में कीचड़ लगाना तो छोड़ दो, स्नान करना तो बाद में प्रारंभ करना किन्तु जो व्यक्ति स्नान करता है और बार-बार कीचड़ लगाता है यानि बार-बार पाप कमाता है स्नान करता है उसका वह स्नान करना व्यर्थ है, सर्वप्रथम उसे इस पाप कार्य को छोड़ना चाहिये।

प्राय: करके कोई व्यक्ति छोटा सा पुण्य कार्य करके उसे अपना पर्दा बना लेता है, मुखौटा बना लेता है उसकी आड़ में न जाने कितने पाप कर लेता है किन्तु विवेकी व्यक्तियों को वह पाप नहीं करना चाहिये। और आगे आचार्यों ने कहा-'मोक्खमग्ग विग्घयरो' मोक्षमार्गी के लिये या जो धर्मात्मा व्रत लेना चाहते हैं दीक्षा लेना चाहते हैं, उस समय मना कर देना या और कोई व्यक्ति पुण्य का कार्य करना चाहता है उस समय विघ्न डालना कि नहीं तुम दान नहीं कर सकते या नियम बना दिया कि हमारे यहाँ दान अमुक जाति के लोग ही दे सकते हैं या अन्य कोई भी दुष्कारण उपस्थित कर दिया, तो यह पाप कर्म का भी अर्जन कराने वाला है।

महानुभाव! दूसरों के पुण्य कार्य में, मोक्षमार्ग में कभी भी विघ्न मत डालो, आज तुम्हारे पुण्य का उदय है जो आज तुम्हारी सामर्थ्य

है दूसरे के पुण्य में बाधा डालने की, किन्तु ये सामर्थ्य हमेशा न रहेगी, ये तुम्हारी सामर्थ्य नष्ट हो सकती है इसीलिये अपनी सामर्थ्य का दुरुपयोग मत करो उस सामर्थ्य का सदुपयोग करो, दूसरों के लिये पुण्य के निमित्त बनो, कल्याण के निमित्त बनो। दूसरों को सद्मार्ग पर चलाओ व स्वयं भी चलो। इसीलिये सुबह शाम भक्ति करते हुये हम कई बार कहते हैं-**"मैं अपने धर्म-ध्यान की वृद्धि करता हुआ दूसरों के धर्मध्यान की वृद्धि में निमित्त बनने की कोशिश करूँगा।"** ऐसा नहीं कि अपना धर्म ध्यान भी नष्ट करूँगा और दूसरों का धर्म ध्यान भी नष्ट करूँगा। अरे! थोड़ा सा सहन करना है, थोड़ा सा मौन लेना है, थोड़ा सा हमें अपने विचारों को बदलना है हमें अपने ऊपर नियंत्रण करके अपनी भी भलाई करना है और दूसरे की भलाई भी करना है।

जो व्यक्ति स्वयं पर नियंत्रण नहीं कर पाता है दूसरों को नियंत्रण करने का उसका भाव नि:संदेह अनधिकारी चेष्टा है। इसीलिये महानुभाव! यहाँ पर जो आचार्य महाराज ने लिखा है **"अज्जेइ अंतरायं ण लहइ जं इच्छियं जेण"** जो ऐसा दुष्कृत करता है उसके जीवन में अंतराय कर्म का उदय आता है। इस अंतराय कर्म के कारण ही वह जो-जो इच्छित-पदार्थ चाहता है, जो-जो पुण्य फल चाहता है उन पुण्य फलों को प्राप्त नहीं कर पाता, उस पुण्य के फल को भोगने में वह व्यक्ति नि:संदेह असफल ही रहता है। इसीलिये आपसे यही कहना चाहते हैं कि आज यदि आप पुण्य के कार्य नहीं कर सकते हो तो न करो किन्तु पाप भी मत करो।

"पुण्य कार्य मत करो भले ही, किंतु करो मत पाप पुण्य के फल को पा लोगे।"

कुछ लोग एक पुण्य की क्रिया करके बहुत से लोगों की निंदा करते हैं जैसे एक व्यक्ति ने भगवान् का अभिषेक कर लिया और

कहने लगा, ये सब लोग तो मिथ्यादृष्टि हैं, भगवान् का अभिषेक तक नहीं करते, ये सब जीव तो पापी हैं मैं देखो पुण्य करके आया हूँ। ये सब लोग तो पापी हैं जो रात में भोजन करते हैं मैंने तो रात्रि भोजन नहीं किया। अरे! भाई तुमने नहीं खाया ये अच्छी बात है किन्तु दूसरों की निंदा करने का अधिकार तुमको किसने दे दिया तुम दूसरों की निंदा क्यों करते हो कि ये सभी पापी हैं। तुम पुण्य कार्य करो पर दूसरों की निंदा मत करो, तुम्हारा पुण्य कार्य इतना सुव्यवस्थित हो कि जिसे देखकर के दूसरों को भी पुण्य कार्य करने की प्रेरणा मिल जाये, तुम्हारा पुण्य कार्य इतना आदर्शवत् हो कि लोग उस पुण्य कार्य को आदर्श मानकर के उसका अनुगमन कर सकें। यदि पुण्य करते हुये दूसरों की निंदा करने का पाप करोगे तो लोग कहेंगे भईया! ऐसा पुण्य किस काम का? यदि तुम पुण्य कर रहे हो तो निंदा क्यों कर रहे हो, यह वैसा ही हुआ जैसे कोई व्यक्ति पुष्प सूँघ रहा है और पुष्प सूँघने के बाद उन काँटों पर अपना हाथ मारते हुये दूसरों से कहता जा रहा है कि ये काँटें हैं, तुम सभी इन काँटों से बचो, तो इससे क्या होगा, इससे तो उसका ही हाथ लहुलुहान होगा।

इसीलिये हमें दूसरों के पाप में सहयोगी व पुण्य का विरोधी नहीं बनना है, यही अंतराय कर्म के आश्रव का कारण है। संक्षेप में हम स्वयं की पुण्य क्रिया को इतनी निराकुलता के साथ करें जिससे दूसरे की पुण्य क्रिया में बाधा न आये। भगवान् महावीर स्वामी का संदेश बस इतना सा है कि 'जियो और जीने दो।' धर्मध्यान पूर्वक स्वयं जियो और दूसरों के धर्मध्यान में बाधक मत बनो यही जिनशासन का सार है, आप सभी उसे ग्रहण करें और आत्म-कल्याण के पथ पर अग्रसर हों, इन्हीं सद्भावनाओं के साथ....।।

"जैनं जयतु शासनं"

औषध सम उपयोगी

महानुभाव! जीवन में क्या आवश्यक है, क्या अनावश्यक? जीवन में हर वस्तु आवश्यक भी नहीं है और हर वस्तु अनावश्यक भी नहीं है। संसार में कुछ पदार्थ ऐसे हैं जो आत्मकल्याण में निमित्त बनते हैं तो कुछ पदार्थ ऐसे भी हैं जो आत्म कल्याण में बाधक भी बनते हैं। जिस प्रकार किसी व्यक्ति के लिये, किसी वस्तु का सेवन करना रोग का कारण होता है, तो दूसरी वस्तु उस व्यक्ति के लिये औषधि रूप कार्य करने वाली भी होती है। संसार में रोग के कारणों का भी अभाव नहीं है और संसार में औषधि का भी अभाव नहीं है। दु:ख के साधन भी संसार में हैं और सुख के साधन भी संसार में हैं। कुछ साधन ऐसे हैं जो दु:ख को नष्ट करने वाले हैं कुछ साधन ऐसे हैं जो सुख को नष्ट करने वाले हैं।

हम यदि दु:खों से बचना चाहते हैं तो हमारा जीवन सुख के साधनों पर आधारित हो और संभव ये है जो सुख के साधन हैं वही दु:ख को नष्ट करने वाले हैं, या जो दु:ख को नष्ट करने वाले हैं वे सुख के साधन भी बन जाते हैं। एक ही वस्तु उभय शक्ति से युक्त होती है अर्थात् जिस क्रिया से पाप नष्ट होता है संभव है वह क्रिया पुण्य भी देने वाली होती है। जिस क्रिया से पुण्य नष्ट होता है संभव है वह पाप का अर्जन कराने वाली होती है। कुछ क्रियायें ऐसी होती हैं जो पाप के बीज रूप मानी जाती हैं और पुण्य को दहन करने वाली होती हैं, तो कुछ क्रियायें ऐसी भी होती हैं जो पाप को दहन करने वाली होती हैं और पुण्य के लिये बीज स्वरूप होती हैं। इसीलिये हेय और उपादेय पदार्थ संसारी प्राणी के लिये एक अवस्था विशेष तक संभव हैं, उसके आगे उन पदार्थों का कोई औचित्य नहीं रहता। व्यक्ति जब उन पदार्थों की हेय, उपादेयता से रहित हो जाता है, तब वे पदार्थ कुछ नहीं करते, किन्तु जब तक वे पदार्थ व्यक्ति

के चित्त को शुभ-अशुभ करने में निमित्त बनते हैं तब-तब उनका महत्त्व, उनका मूल्यांकन कम नहीं किया जा सकता है। नीतिकारों ने लिखा है-

रोगे पथ्यं प्रभौ तथ्यं, खले न्याय्यं रिपौ क्षयः।
ज्ञाने ध्यानं धने दानं, स्त्रैणे मार्दवमौषधम्॥

मनीषी आचार्य कहते हैं कि रोग के लिये पथ्य आवश्यक है, पथ्य का सेवन करना एक तो रोग को नष्ट करने वाला होता है दूसरी ओर आरोग्य को देने वाला होता है। जिस प्रकार जलता हुआ दीपक एक ओर प्रकाश को देने वाला होता है तो दूसरी ओर अंधकार को नष्ट करने वाला भी होता है। ऐसा नहीं है कि अंधकार को नष्ट करने वाला दीपक अलग है और प्रकाश को देने वाला दीपक अलग है। ऐसा नहीं है क्षुधा को दूर करने वाला भोजन अलग हो और तृप्ति देने वाला भोजन अलग हो अतः ये सिद्ध है रोगी के लिये पथ्य का सेवन करना अत्यंत आवश्यक है, इसीलिये तो मनीषी विद्वानों ने, आचार्यों ने लिखा है कि यदि पथ्य सेवन नहीं तो औषधि क्यों, और यदि पथ्य सेवन कर रहे हैं तो औषधि क्यों? पथ्य का सेवन नहीं किया तो कितनी भी औषधि सेवन करते जायेंगे औषधि अपना असर न दिखा सकेगी, पथ्य का सेवन न करने से रोग बढ़ता चला जायेगा।

ऐसे समझो जैसे हाथी नदी किनारे पहुँचकर जल में स्नान कर लेता है और वहाँ से दो कदम पीछे होते ही धूल अपनी पीठ पर डाल लेता है, फिर स्नान कर लेता है, फिर धूल डाल लेता है तो ऐसा वह स्नान भी सार्थक नहीं है और धूल डालना भी सार्थक नहीं है, ज्यों की त्यों मलिन बना रहता है, ऐसे ही जो व्यक्ति पथ्य विहीन है उनके लिये औषधि कोई कार्यकारी नहीं होती, क्योंकि औषधि से जितना रोग नियंत्रित किया जाता है अपथ्य सेवन करने से रोग उतना

बढ़ जाता है इसीलिये औषधि सेवन करने के पूर्व पथ्य का ध्यान रखना जरूरी है कि इस रोग में किस वस्तु का सेवन करना आवश्यक है और किस वस्तु का सेवन करना अनावश्यक है या त्याज्य है। तो पथ्य भी औषधि होती है। अगली बात कही-**'प्रभौ तथ्यं'** जैसे रोग में पथ्य औषधि होती है उसी तरह राजा के सामने प्रभु के सामने व्यक्ति को तथ्य ही स्पष्ट करना चाहिये। सत्य बात को छिपाने से तुम कभी भी अपने मालिक के, राजा के, प्रभु के विश्वस्त नहीं बन सकोगे।

तथ्य को स्पष्ट करने से या सत्य को बोलने से यदि तुम्हें कोई प्रतिकूलता का सामना करना पड़े, किसी प्रकार का कष्ट भोगना पड़े या तुम्हें किसी प्रकार की हानि भी वहन करनी पड़े तो वह भी उचित है किन्तु यदि आपने असत्य बोल दिया तो जब तथ्य उजागर होगा तब निःसंदेह तुम्हारा मालिक, तुम्हारा स्वामी, तुम्हारा प्रभु तुम्हें आश्रय देने वाला आश्रय दाता तुम्हारे ऊपर बहुत कुपित हो सकता है इसीलिये सत्य ही अपने स्वामी के सामने औषधि की तरह है। जैसे बिना पथ्य के औषधि व्यर्थ है, रोग में पथ्य औषधि रूप होता है ऐसे ही स्वामी के सामने सत्य और तथ्य औषधिरूप हितकारी व सुखद होता है।

यदि गुरु के सन्मुख शिष्य असत्य बोलता है, कोई बात छिपाता है, यदि वैद्य के सम्मुख रोगी कोई बात छिपाता है, राजा के सम्मुख यदि कोई अपराधी बात छिपाता है या अन्य जो जिसके अधीनस्थ है उनसे कोई सत्य बात छिपायी जाती है तब निःसंदेह वह महान संकटों को देने वाली होती है। सत्य का प्रकट करना न केवल अपनी वरन् सबकी सुरक्षा में कारण होता है सत्य को छिपाने से सबकी असुरक्षा संभव है, सबका पतन संभव है इसीलिये द्वितीय बात कही 'प्रभौ तथ्यं।' आगे कहते हैं-

'खले न्याय्यं रिपौ क्षयः' दुष्टों के साथ जो व्यक्ति शिष्टता वर्तता है, दुष्टों पर दया करता है, दुष्टों का पक्ष लेने के लिये अन्याय करता है ऐसा व्यक्ति धर्म और सत्य के द्वारा छोड़ दिया जाता है। राजा दुष्टों के साथ न्याय वर्तता है 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' शठ पुरुष के साथ शठता का व्यवहार करता है क्योंकि यदि ऐसा न करे तो सत्पुरुषों का जीना दुष्कर हो जायेगा। शिष्ट पुरुषों का सद्भाव ही नहीं रह पायेगा, क्योंकि शिष्ट पुरुष राजा के संरक्षण में ही रह सकते हैं और राजा ही दुष्टों का निग्रह कर सकता है। राजा ही दुष्टों का निग्रह न करे, वही दुष्टों को आश्रय देने लगे, दुष्टों का पक्ष लेने लगे तब फिर शिष्ट पुरुष भी शिष्टता को छोड़ने पर मजबूर हो जायेंगे। या शिष्टता न छोड़ेंगे तो उनका जीवन असंभव हो जायेगा इसीलिये यह अत्यंत आवश्यक है कि दुष्टों के साथ न्याय औषधि रूप होता है, दुष्टों के साथ न्याय नहीं किया तो दुष्ट सत्य का लोप कर देंगे, दुष्ट सत्ता, वैभव, सम्पत्ति एवं परोपकार के अन्य सभी साधनों का अभाव कर देंगे। इसीलिये कहा 'खले न्याय्यं' दुष्टों के प्रति न्याय रखो, दया नहीं। आगे कहते हैं-

'रिपौ क्षयः' शत्रु के साथ औषधि रूप है विनाश/क्षय। जो शत्रुओं को जीवन दान देता है वह अपने जीवन को संकटों में डालता है। उत्तम राजा यदि अपने शत्रु को दो-चार बार परखकर भी उस शत्रुता को मूल से उखाड़कर नहीं फेंकता तो वह उसी किसान की तरह से है जो किसान अपने खेत में उगे हुये झाड़-झंकड़ को उखाड़ता नहीं बस बार-बार उसके पत्तों को तोड़कर फेंक देता है, काँटे तोड़कर फेंक देता है कि अब सब ठीक हो जायेगा किन्तु पत्ते तोड़ने से, काँटे तोड़ने से उस वृक्ष की सत्ता समाप्त नहीं हुयी झाड़-झंकड़ खेत में से चले नहीं जायेंगे अपितु आगे कभी अवसर आयेगा, अगली फसल आयेगी वे उसे और ज्यादा नष्ट करेंगे। शिष्ट

राजा वही है जो अपने शत्रु को एक-दो बार सुधार का अवसर प्रदान करके तृतीय बार उसे समूल नष्ट कर देता है। जो शत्रु को समूल नष्ट नहीं करता है तो शत्रु अवसर पा करके, शक्ति पा करके, अनुकूलता प्राप्त करके उस राजा को उखाड़ कर फेंक देता है, इसीलिये जो भी समाज के नेतृत्व करने वाले हैं वे मानवता के शत्रुओं का संहार करते हैं।

कई बार धर्म की बुद्धि धारण करने वाले व्यक्तियों को यह अन्याय सा प्रतीत होता है क्योंकि धर्मात्मा सबको अपनी ही तरह देखते हैं, धर्म एकाकी होता है वह कहता है कोई बात नहीं कोई मेरी आत्मा का घात भले ही कर दे फिर भी मैं घात नहीं करूँगा। यह एक धर्मात्मा की भावना और भाषा हो सकती है किंतु समाज की सेवा करने वाले, मानवता के संवाहक एवं प्राणी मात्र की रक्षा का ख्याल रखने वाला कोई भी नायक, कोई भी राजा इस प्रकार से नहीं करेगा। यदि वह सम्यक् राजा है तब उसे शत्रुओं को उखाड़कर फेंकना ही होगा। यदि एक चिंगारी भी भवन में शेष रह जाती है तब संभव है वह ईंधन का सान्निध्य पाकर के सम्पूर्ण भवन को, नगर को भस्म कर सकती है। इसीलिये अग्नि की एक भी चिंगारी है तब भी उस पर जल प्रपात करके बुझा देना चाहिये। कोई कहे हमने सारी अग्नि बुझा दी है थोड़ी सी चिंगारी रह गयी है किंतु यह थोड़ी सी चिंगारी भी अवसर पाकर के अपने मित्र पवन (वायु) का संयोग पाकर के और अपने सहयोगी ईंधन का सहयोग पाकर के पुनः महा ज्वाला का रूप ले सकती है। इसीलिये राजा कभी दुष्टों को क्षमा नहीं करता। एक बार-दो बार सुधरने का अवसर भले ही दे सकता है और वह इसमें लोकनिंदा का भी ख्याल नहीं रखता कि लोग क्या कहेंगे? लोग थोड़ी देर ही निंदा करेंगे किन्तु वह जिन नीतियों के आधार से राज्य का संचालन कर रहा है या अपने स्वयं के शुद्ध

विचारों के साथ सोचता है कि आज यदि मैं इसे छोड़ दूँगा अर्थात् जैसे मार्ग में पड़े हुये काँटों को जो पथिक छोड़ देता है वे काँटे कभी भी फूल नहीं बन जाते, वे काँटे-काँटे ही रहते हैं ऐसे ही वह राजा विवेकी पथिक की तरह से मार्ग में पड़े काँटों को दूसरी ओर उठाकर फेंक देता है या जलाकर के नष्ट कर देता है। ऐसे ही जो राजा अपने शत्रुओं को नष्ट कर देता है उस राजा के राज्य में सर्वत्र सुख और शांति रहती है और जो राजा अपने शत्रुओं को खोज भी न पाये क्योंकि शत्रुओं की चाल ऐसी होती है कि वे मित्र का रूप बनाकर के अपनी शत्रुता निकालने का अवसर खोजते हैं। शत्रु के भेष में रहकर शत्रुओं से बदला लेना उन्हें समाप्त करना तो बहुत सरल होता है किन्तु मित्र की पोशाक पहनने वाले शत्रुओं को खोजना बहुत कठिन होता है, इसीलिये उन राजाओं को कई बार पश्चाताप होता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जिस राजा के साथ मित्र की पोशाक पहनने वाले शत्रु रहे वह राजा समूल नष्ट हो गये, किंतु जिस राजा ने अपने अंतरंग-बहिरंग शत्रुओं को पहचान लिया और उन्हें निर्मूल कर दिया वे राजा सुदीर्घकाल तक अपने राज्य का संचालन करते रहे, उस राजा के राज्य में प्रजा भी सुखी रही, मानवता वृद्धि को प्राप्त हुयी, मानवता ने नि:संदेह धर्म और समाजवादिता के उत्तुंग शिखरों को छुआ है।

आगे कहते हैं "ज्ञाने ध्यानं धने दानं" ज्ञान यदि ध्यान नहीं बनता है तो वह ज्ञान नि:संदेह अहंकार का कारण बन जाता है। जो भी प्रबुद्ध वर्ग अधिक ज्ञान अर्जित करते हैं और उस अधिक ज्ञान को अर्जित करने के साथ-साथ जीवन में आज्ञा विचय, अपाय विचय, विपाक विचय, संस्थान विचय नाम का धर्मध्यान नहीं करते, तत्त्वचिंतन नहीं करते, सदाचार का पालन नहीं करते उन पुरुषों का वह शब्द ज्ञान उन्हें पतित कर देता है। वे शब्द ज्ञानी विद्वान् दुर्गति के पात्र बन

जाते हैं, इस लोक में भी वे पाप का अर्जन करते हैं और परलोक में भी वे दु:ख का ही संग्रह करते हैं इसीलिये ज्ञान का अंकुश, ज्ञान की औषधि है ध्यान।

जैसे हस्ति आदि जानवरों को नियंत्रित करने के लिये अंकुश का प्रयोग किया जाता है, वैशाखनंदन (गधा) आदि पशुओं को नियंत्रित करने के लिये दण्ड का प्रयोग किया जाता है, अश्व-वृषभ आदि पशुओं को नियंत्रण करने के लिये नाथ और लगाम आदि लगायी जाती है उसी तरह ज्ञान को नियंत्रित करने के लिये धर्मध्यान अत्यंत आवश्यक है, सदाचार संयम अत्यंत आवश्यक है यदि ऐसा नहीं है तो निरंकुश ज्ञान नि:संदेह अपने स्वामी का पतन करेगा ही करेगा।

'धनेदानं' कोई भी पुरुष यदि नि:सीम धन कमाता है और उस धन का उपयोग सत्पात्रों के दान में व्यय नहीं करता यदि उसका वह अर्थ, परमार्थ का मार्ग नहीं खोल रहा है तब वह अर्थ, अनर्थ का कारण बन जाता है। वह अर्थ व्यर्थ हो जाता है इसीलिये धन पर अंकुश लगाया जाता है दान के द्वारा। धन सुगति का कारण बन जाता है दान के द्वारा, धन सुख देता है दान के द्वारा किंतु वह दान भी सद्पात्रों को हो। कहा भी है-

"लक्ष्मी के सुत चार हैं, धर्म अग्नि नृप चोर।"
जहाँ जेठे की कदर नहीं, तीनों लेत बटोर॥

लक्ष्मी के मानो चार पुत्र हैं धर्म, अग्नि, नृप और चोर यदि जो अपना धन धर्म में व्यय नहीं करता तो उसका धन नि:संदेह राजा के द्वारा, चोर के द्वारा, अग्नि के द्वारा नष्ट कर दिया जाता है। आचार्य भगवन् श्री अमोघवर्ष स्वामी ने लिखा **"दानं प्रियवाक् सहितं"** दान लालित्यपूर्ण वचनों व विनम्रता से दिया जाना चाहिए। इसके विपरीत अन्य मनस्क दान, दान नहीं वह तो अहंकार की पुष्टि के लिए धन

को छोड़ना है।

राजा हरसुख राय जी 1807 में मुगल बादशाह अकबर द्वितीय के शासनकाल में उनके खजांची थे। मुगल शासन के दौरान प्रथम बार मंदिर के शिखर निर्माण के लिए शाही अनुमति उन्होंने प्राप्त की। उस समय लगभग 8 लाख रु. की लागत से उन्होंने मंदिर का निर्माण कराया किन्तु जब थोड़ा बहुत काम रह गया तो उन्होंने मंदिर का कार्य बंद करा दिया। समाज के लोगों ने जब मंदिर के कार्य को अवरुद्ध देखा तो सभी लोग मिलकर हरसुख राय जी के पास पहुँचे बोले "क्या बात है राजा साहब! आपने मंदिर का काम क्यों रुकवा दिया।" हरसुख जी ने बड़ी विनम्रता से कहा-"भैया! मेरे पास जितना धन था लगा दिया, बिना धन के मंदिर निर्माण कैसे संभव हो सकता है।"

तभी समाज के सभी लोगों ने स्वद्रव्य का दान दिया और शीघ्र मंदिर पूर्ण रूपेण निर्मित हो गया। बाद में धूमधाम से पंचकल्याणक भी हुए।

महानुभाव! जिस व्यक्ति ने एक नहीं कई मंदिरों का निर्माण कराया हो, इस मंदिर को भी लगभग पूरा सा करा दिया, क्या उसके पास इतना धन नहीं होगा कि वे संपूर्ण मंदिर निर्माण करा सकें। किंतु उनकी अत्यंत उदार भावना कि बाद में समस्त जैन समाज का सहयोग लेकर उस मंदिर को पंचायती घोषित कर दिया। दिल्ली में स्थित यही मंदिर आज लाल मंदिर के नाम से विख्यात है।

अगला कहा "स्त्रैणे मार्दवमौषधं" स्त्रियों के प्रसंग में मृदुता का व्यवहार ही औषधि की तरह है। जो स्त्रियों से कटु व्यवहार करते हैं, निंद्य व्यवहार करते हैं वे स्वयं निंदा अपमान को प्राप्त करते हैं कहा भी जाता है-एवं **'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवताः'** जहाँ नारियों का आदर-सम्मान होता है वहाँ देवता भी आकर निवास

करते हैं।

नारियों के साथ सम्मानजनक व्यवहार करने वाला स्वयं भी सम्मान, प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है, जीवन में उन्नति करता है। इसके विपरीत व्यवहार करने वाला मानों विनाश की ओर अग्रसर होता है। द्रोपदी के साथ दुर्योधन कौरवों का कटुक व्यवहार उनके विनाश का कारण बना। इतना ही नहीं उनकी प्रतिष्ठा इतनी धूमिल हुई कि हजारों वर्षों बाद भी उनके नाम पर कोई अपनी संतान का नाम रखना नहीं चाहता। सीता के अपमान के कारण रावण की भी यही दशा हुई। उसका सब कुछ नष्ट हो गया और स्वयं भी मृत्यु के मुख में पहुँच गया। जिस-जिस ने भी नारी की ओर बुरी दृष्टि से देखा, अपमान जनक व्यवहार किया प्रकृति ने उसे ही अपमान के योग्य बना दिया। इसीलिये नीतिकार इस प्रकार का संकेत करते हैं कि विवेकीजन इन सभी बातों का अवश्य ध्यान रखें कि रोग में पथ्य सेवन, प्रभु के सम्मुख सत्यवचन, दुष्ट के साथ न्याय, शत्रु के साथ विनाश, ज्ञान के साथ ध्यान, धन के साथ दान, स्त्रियों के साथ मृदु व्यवहार औषधि के समान है। आप सब इनका पालन करें, सुख शांति को प्राप्त करें इन्हीं सद्भावनाओं के साथ....।।

"जैनं जयतु शासनं"

पात्र दान

महानुभाव! आप सभी अपना हित करने के इच्छुक हैं। जीवन में उत्तम सुख की प्राप्ति करना असंभव नहीं है और दुर्लभ भी नहीं है। कुछ व्यक्ति सुखाभास को भी सुख मानते हैं। जो पंचेन्द्रिय के द्वारा पौद्गलिक पदार्थों का सेवन किया जाता है उस सेवन में भी उनकी धारणा है कि उन्हें सुख मिल रहा है, जैसे कोई श्वान अस्थि का चर्वण करके मानता है कि इसमें से रक्त निकल रहा है और यह रक्त मेरे लिये न केवल स्वास्थ्यवर्धक होगा अपितु पुष्टिकारक भी है। ऐसे ही कुछ व्यक्ति जो मिथ्यादृष्टि हैं, जिनकी दृष्टि सम्यक्त्व से बहुत दूर है, जो समीचीनपने से रहित हैं, जो मिथ्या धारणाओं में जीने वाले हैं उन्हें भी ऐसा लगता है कि संसार के पदार्थों का जितना संग्रह किया जाये उतना ज्यादा सुख प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु सत्यता इससे विपरीत है।

सत्यता ये है कि व्यक्ति पर पदार्थों से जितना मुक्त होता चला जाता है उतना आत्मीय सुख प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है। पूर्व पुण्य के उदय से जो कुछ भी हमने और आपने प्राप्त किया है उस पुण्य का फल शरीर में प्राप्त हो रहा है, पुद्गल विपाकी प्रकृतियों के माध्यम से। आत्मा में भी मिल रहा है जीवविपाकी प्रकृतियों के उदय के माध्यम से और भव में रुके हुये हैं भव विपाकी प्रकृतियों के उदय के माध्यम से, जब गत्यान्तर अवस्था होगी तब क्षेत्र विपाकी प्रकृतियों का फल भोगा जायेगा। जो भी प्राप्त किया साता रूप या असाता रूप, दूसरे शब्दों में कहें जो कुछ भी सामग्री प्राप्त की चाहे शुभ रूप या अशुभ रूप, उच्च कुल या नीच कुल, शुभनाम-अशुभनाम, शुभ आयु-अशुभ आयु सब अपने-अपने पाप-पुण्य से प्राप्त किया चार घातिया कर्म ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय और अन्तराय

कर्म तो नि:संदेह पाप प्रकृतियाँ ही हैं, अघातिया कर्मों में कुछ पुण्य प्रकृतियाँ होती हैं कुछ पाप।

पूर्व पुण्य के उदय से धन सामग्री प्राप्त की, उत्तम कुल, निरोगी शरीर, उत्तम संहनन की प्राप्ति हुयी तब उस गृहस्थ को क्या करना चाहिये, तब वह अपने धन का विनियोग कैसे करे, कैसे अपने धन का सदुपयोग करे। वह मानता है पूजा और दान दोनों आत्मकल्याण करने में समर्थ हैं और यह बात मिथ्या भी नहीं है, सत्य है किन्तु बात समझने की ये है कि पूजा किसकी करनी है और दान किसको देना है। पूजा कैसे करनी है, दान कैसे देना है, दान किस वस्तु का देना है, पूजा किस वस्तु से करना है तो ये समझना जरूरी है। पूज्य कौन, पूजा क्या, पूजक कौन, पूजा का फल क्या। ये चार बातें पूजा के बारे में समझना जरूरी हैं, ये ही चार बातें दान के बारे में समझना जरूरी हैं। दान किसको दें, दान देने के योग्य कौन, दान का फल क्या और दान की विधि क्या?

आचार्य भगवन् कार्तिकेय स्वामी ने कार्तिकेय अनुप्रेक्षा में 366वीं गाथा में लिखा है-

उत्तमपत्तविसेसे, उत्तमभत्तीए उत्तमं दाणं।
एयदिणे विय दिण्णं, इदं सुहं उत्तमं देदि॥

जो कोई भी भव्य जीव एक दिन भी उत्तम पात्र को, उत्तम भक्ति के द्वारा, उत्तम रीति से, उत्तम दाता बनकर, उत्तम दान देता है तो उसका ये दान उत्तम फल को देने में समर्थ है या उत्तम सुख को देता है।

अब इन शब्दों को समझ लें उत्तम पात्र कौन, उत्तम वस्तु क्या, उत्तम दाता कौन और उत्तम विधि क्या। उत्तम पात्र के बारे में जानें उससे पहले उत्तम शब्द का अर्थ समझ लें। उत्तम का अर्थ होता है श्रेष्ठ जिससे श्रेष्ठ और कुछ न हो। पात्र का अर्थ होता है जो अपने

आप में पवित्र हो, जिसमें क्षमता हो, जिसमें गुणों की गुणता हो और जिसमें संसार से बाहर जाने के लिये लघुता हो, जिसके कारण वह संसार सागर में डूबे नहीं। जैसे पाषाण की नाव डूब जाती है ऐसे ही जघन्य, अधम पात्र डूब जाते हैं। जैसे लकड़ी की नाव पार कराने में समर्थ होती है वैसे ही उत्तम पात्र अपना कल्याण करते हुये दाता को भी संसार सागर से पार कराने में समर्थ होता है। कागज की नाव जल में गल जाती है ऐसे ही क्षणभर के वैराग्य से प्रभावित हुये साधक न स्वयं अपना कल्याण कर पाते हैं और न दूसरों का।

'उत्तम-पत्त-विसेसे' उत्तम पात्रों में श्रेष्ठ कौन है? वे हैं पंचपरमेष्ठी। उत्तम पद, परम पद एकार्थवाची है। 'उत्तम-परम-पदे वा तिष्ठति सः परमेष्ठी' जो उत्तम पद में, श्रेष्ठ पद में, परम पद में स्थित हैं वे परमेष्ठी हैं, उनको दान देना चाहिए, सिद्ध परमेष्ठी हमारे दृष्टिगोचर नहीं हैं तो उन्हें दान दिया नहीं जा सकता, अरिहंत परमेष्ठी कुछ ग्रहण करते नहीं उन्हें भी दान नहीं दिया जा सकता, अब हमारे सामने तीन परमेष्ठी बचे आचार्यपरमेष्ठी, उपाध्यायपरमेष्ठी और साधुपरमेष्ठी।

जो संसार-शरीर-भोगों से विरक्त हैं, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से युक्त हैं ज्ञान-ध्यान-तप में लीन हैं स्व-पर का कल्याण करने में समर्थ हैं उन्हें उत्तम पात्र कहते हैं। जिसके अंदर पात्रता होती है वह पात्र होता है। वर्तमान काल में तीर्थंकर आदि पात्र तो नहीं वे जब मुनि अवस्था में होते हैं वे परमोत्तम पात्र होते हैं किन्तु आज सामान्य साधना करने वाले साधक होते हैं उन्हें यथा अवसर आहार, औषधि, शास्त्र व वसतिका आदि उपकरण देना यह पात्र के लिये कल्याणकारक है और दाता के लिये भी कल्याण करने वाला है। इसीलिये कहा **'दाता दोनों दान संभारे'** दाता दोनों धर्म सम्भालें।। उत्तम दाता दोनों धर्म की रक्षा करने वाला होता है, धर्म का संवर्धन-संरक्षण करने में समर्थ होता है।

महानुभाव! उत्तम पात्रों को 'उत्तम भत्तीए' उत्तम भक्ति के साथ दान देना चाहिए। बिना भक्ति के दिया गया दान अपने सम्पूर्ण फल को देने में असमर्थ होता है। आचार्य चामुण्डराय जी ने चारित्रसार में लिखा-

"दानं पारम्परेण मुक्तिकारणं"

दान परम्परा से मुक्ति का कारण है इसीलिये तीर्थंकर आदि या जो सामान्य केवली बनकर मोक्ष गये पूर्व भव में उन्होंने भी आहारादि दान दिया, कदाचित् कोई जीव जिसने आहारादि दान नहीं दिया तो उसने अनुमोदना अवश्य की। ऐसा उदाहरण मिलना कठिन है जिसने आहारादि दान न दिया हो क्योंकि यह दान दुर्गति का नाश करने वाला है। दान से जीवन में अर्जित पाप प्रक्षालित हो जाता है, इसीलिये कहा "उत्तम पत्त विसेसे, उत्तम भत्तीए उत्तमं दाणं" उत्तम पात्रों को, उत्तम भक्ति के द्वारा नवधा भक्ति के द्वारा, मणसा-वाचा-कर्मणा या कृत कारित अनुमोदना पूर्वक भक्ति करना, कराना व करने वाले की अनुमोदना करना ये नवधा भक्ति अथवा नवधा भक्ति से आशय पड़गाहन, उच्चासन, पाद प्रक्षालन, पूजन, नमस्कार, मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि, आहार जल आदि शुद्धि इस प्रकार नवधा भक्ति पूर्वक आहार देना।

दाता के मन में जितनी-जितनी निर्मलता बढ़ती जाती है उतनी-उतनी उसकी भक्ति उत्कृष्ट होती जाती है। दाता उत्तम विधि से, उत्तम पात्र को, उत्तम वस्तु का दान देता है। उत्तम वस्तु अर्थात् सावद्य विरहित वस्तु जिसमें पाप न हो। जिसमें जीव का घात न हो ऐसी शुद्ध वस्तु, आहार आदि का दान देना, ये उत्तम दान है।

महानुभाव! यूँ तो दान मुख्य रूप से चार प्रकार का है और अनेक प्रकार का भी किन्तु आहार दान को श्रेष्ठ माना जाता है। क्यों माना जाता है? नीतिकार-भी कहते हैं **'अन्नदानं परमदानं।'** क्योंकि अन्न से क्षुधा शांत होती है, अन्न के माध्यम से शरीर में धर्म साधना

करने का सामर्थ्य आता है, अन्न के माध्यम से स्व-पर का कल्याण करने में ज्ञान ठहरता है। बिना अन्न ग्रहण किये इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं मन समीचीन रूप से कार्य करने में असमर्थ हो जाता है इसीलिये आहार धर्म का कारण है। वह आहार रोग को दूर करने में भी समर्थ है आहार औषधि का भी काम करता है और आहार के माध्यम से ही प्राण शरीर में ठहर सकते हैं अन्यथा प्राण शरीर से अलग हो सकते हैं इसीलिये आहारदान अभयदान भी है। जिसने भी आहारादि दान दिया उसने नि:संदेह उत्तम सुख को प्राप्त किया।

गजतुरग-सहस्रं गोकुलं भूमिदानं, कनक-रजतपात्रं मेदनी सागरान्तं।
उभयकुलपवित्रं कोटिकन्याप्रदानं, न हि समं भवतु अन्नदानं समानं॥

आचार्य महोदय ने लिखा हजारों हाथियों-घोड़ों का दान, हजारों गायों का दान, सागर पर्यंत पृथ्वी का दान, स्वर्ण-चाँदी के बर्तनों का दान, दोनों कुलों को पवित्र करने वाली कन्याओं का दान इन सभी दान से जो फल मिलता है वह फल न्यून है, वह फल एक मुट्ठी अन्न दान की बराबरी नहीं कर सकता है। यदि एक ग्रास भी नवधा भक्ति से दिया है तो वह दान नि:संदेह वट के बीज की तरह से फल देने में समर्थ होता है। वट वृक्ष का बीज बहुत लघु होता है किन्तु जब वह उत्पन्न होता है तो विशाल वृक्ष बन जाता है उसमें उस प्रकार के लाखों फल आते हैं। उन फलों से अनेक बीज प्राप्त होते हैं पुन: एक बीज से अनेक फलों की प्राप्ति होती है, इसी तरह से उत्तम रीति से उत्तम पात्र को, उत्तम दाता ने, उत्तम वस्तु का दान दिया है तो वह भी उत्तम सुख को प्राप्त करता है।

चतुर्थ काल का प्रसंग है जिस समय भगवान् पार्श्वनाथ स्वामी का शासनकाल चल रहा था, उस समय कौशाम्बी से एक श्रावक श्रावस्ती के लिये जा रहा था, पाप कर्म के उदय से उसका समस्त वैभव-समस्त सम्पत्ति नष्ट हो चुकी थी, उसने सुना था कि श्रावस्ती

में कोई एक ऐसा सेठ है जो पुण्य को गिरवी रखता है, उसके बदले में उधार पैसा देता है। उसने भी पूर्व में कुछ पुण्य कार्य किये थे, अपनी पत्नी के विशेष आग्रह पर वह श्रावस्ती गया, मार्ग के लिये उसने थोड़ी सी मूँग की दाल व चावल लिये। जब वह पद यात्रा करता हुआ मार्ग से जा रहा था, मार्ग जंगल से होकर जाता था, सामने देखा कि कोई सेठ अपना डेरा लगाये हुये वहाँ रुका है और उसके सेवकों द्वारा उसकी रसोई तैयार हो रही है। उसने कहा मुझे अलग से चूल्हा बनाना पड़ेगा और बर्तन भी मेरे पास नहीं हैं यदि हर्ज न हो तो ये चावल और दाल आपके चौके में मैं देता हूँ इसे बनाकर के मुझे दे दें।

सेठ भला आदमी था, उन्होंने स्वीकृति दे दी और दाल-चावल पका दिये। किन्तु सेठ भोजन करने से पूर्व प्रतिग्रह करता है अतिथि संविभाग व्रत का पालन करता है। मुनिराज की भावना भाता है तभी आकाशमार्ग से ऋद्धिधारी मुनिराज का पड़गाहन किया और आहार देना प्रारंभ किया। मुनिराज ने अन्य वस्तुयें न लेकर के मात्र दाल-चावल की खिचड़ी का आहार लिया और खिचड़ी लेने के उपरांत मुनिराज आकाश मार्ग से चले गये। वह व्यक्ति भी जाने को तैयार हुआ, सेठ ने कहा-तुम बिना भोजन के नहीं जा सकते, उसने कहा नहीं मैं भोजन नहीं करूँगा, मेरा जो भाग था वह मुनिराज ने ग्रहण किया यह मेरा बहुत बड़ा पुण्योदय है। सेठ ने कहा-यदि तुम भोजन नहीं करोगे तो मैं भी भोजन नहीं करूँगा। तब उसने सेठ के यहाँ भोजन किया।

पश्चात् श्रावस्ती पहुँचा, वहाँ के सेठ ने उससे पूछा-तुमने क्या पुण्य का कार्य किया, तब वह बोला मैंने पूर्व में धर्मशाला बनवायी, प्याऊ खुलवायी, वृक्ष लगवाये और भी पुण्य के कार्य किये। सेठ ने कहा- ये सब तुमने अपने नाम के लिये किये थे, इससे कोई विशेष

पुण्य नहीं मिला, और कोई पुण्य कार्य किया हो तो बताओ। उसने कहा- मैं अभी आ रहा था, मार्ग में एक जंगल में मुनिराज का आहार हुआ था, मेरे मुट्ठी भर दाल और चावल की खिचड़ी बनी थी, वह उन्होंने ग्रहण की थी, मैंने भावपूर्वक अनुमोदना जरूर की थी। उसने ज्यों ही यह चिट पर लिखकर रखा तो तराजू का पलड़ा नीचे हुआ, दूसरे पलड़े पर वह सेठ सोना चाँदी रखता गया किन्तु वह पलड़ा उठा ही नहीं। सेठ ने कहा-भाई इस पुण्य का फल इतना अधिक है कि मेरे पास इतना धन नहीं है इसीलिये तू अभी मुझसे उचित द्रव्य लेकर चला जा, बाद में तू मेरा पैसा वापिस कर देना। उस व्यक्ति ने वैसा ही किया।

वह पैसा लेकर आया, अपना व्यापार प्रारंभ किया और मुनिराज को आहारदान के पुण्य से उसकी उदयागत पाप प्रकृतियाँ भी पुण्य रूप में संक्रमित हो गयीं। कहने का अभिप्राय यहाँ पर इतना है कि व्यक्ति यदि उत्तम भावनाओं के साथ अल्प भी देता है तो वह भी बहुत फल देने वाला होता है और भावना विशेष न हो पाये तो बहुत दिया गया दान भी बहुत फल को नहीं दे सकता।

उत्तम पात्र, उत्तम दान, उत्तम विधि और उत्तम दाता हो तभी यह उत्तम सुख को देने में समर्थ होता है। उत्तम सुख ही वह शाश्वत सुख है जो हमारा स्वाभाविक सुख है। जो सिद्धों का सुख है उसे भी यह दान देने में समर्थ होता है इसीलिये भव्य जीवों को, गृहस्थों को अपनी सामर्थ्य के अनुसार जब तक वे उस प्रकार का दान देने में समर्थ हैं तब तक दानादि देकर के शाश्वत पुण्य का अर्जन करना चाहिये, स्वपरहित में निमित्त बनना चाहिये। यही आपके प्रति सद्भाव है, आप सभी का शुभ हो, मंगल हो, इन्हीं भावनाओं के साथ....।।

"जैनं जयतु शासनं"

मरणसमं णत्थि भयं

महानुभाव! किसी वस्तु को समझने के लिये उदाहरण, उपमा, लक्षण हेतु और विशेषतायें सहायक बन जाती हैं, इनके बिना उस वस्तु के स्वरूप को समझना वैसे ही कठिन हो जाता है जिस प्रकार पंखों के बिना पक्षी का आकाश में गमन करना, प्राणवायु के बिना किसी प्राणी का जीवंत रहना, शब्दों के बिना किसी को अपने भावों को प्रस्तुत करना। यहाँ पर भी हम महत्त्वपूर्ण वस्तुओं को जानने की कोशिश करेंगे। संभव है इन चार बातों को समझकर के हम अपने जीवन के चारों पन, चारों अवस्थायें सफल और सार्थक कर सकें। ये चार बातें चार कषायों के शमन के लिये, चतुर्गति भ्रमण के विनाश के लिये, चारों अनुयोगों के ज्ञान को सारभूत बनाने के लिये अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती हैं।

व्यक्ति संसार में इन चारों से दु:खी है पहला उसे दु:ख है भय का, दूसरा दु:ख है वेदना का, तीसरा दु:ख है बुढ़ापे का, चौथा दु:ख है बैरी का। व्यक्ति इन चार से सदैव शंकित रहता है, इन चार के रहते हुये व्यक्ति निराकुल, निर्द्वन्द, निर्विकल्प एवं सहज सुख का आनंद नहीं ले पाता। संभव है किसी के पास ये चारों प्रकार की परेशानी हो, किसी के पास तीन दो या एक प्रकार की ही परेशानी हो। प्रतिकूलता एक भी है तो वह एक प्रतिकूलता भी सौ अनुकूलताओं को तिरोहित करने वाली है। जिस प्रकार गणित का सवाल करते समय यदि उस सवाल का 99% हल कर दिया, 1% चूक गये तो समझना चाहिये वह सवाल गलत ही माना जायेगा, सही उत्तर प्राप्त नहीं किया जा सकता। कोई वायर इलेक्ट्रिक मशीन से कनेक्ट है, बहुत लंबा है, सैकड़ों मीटर लंबा है किंतु जहाँ स्विचबोर्ड से उसे ज्वाइंट करना है उसमें केवल सिर्फ और सिर्फ एक सेंटीमीटर का

अंतर रह गया है उस एक सेंटीमीटर के कारण समस्त इलेक्ट्रॉनिक इन्स्ट्रूमेंट आदि व्यर्थ ही माने जायेगें सार्थक नहीं हो सकते।

ऐसे ही जीवन में किसी को चाहे मृत्यु का भय हो, चाहे कोई शरीर में व्याधि हो, चाहे बुढ़ापे से परेशान हो, चाहे वह बैरी से चिंतित रहता हो अथवा उसे अन्य प्रकार की वेदना या पीड़ा हो ये चार शब्द हमारे जीवन में अच्छी तरह से घुले-मिले हैं। संभव है प्रत्येक संसारी प्राणी इन चारों शब्दों से इतनी अच्छी तरह परिचित है जितना अन्य किसी से परिचित नहीं। क्योंकि ये चारों शब्द उसे प्रत्येक भव में अनुभव में आये हैं, इसीलिये आचार्य महोदय ने कार्तिकेय अनुप्रेक्षा की टीका में लिखा-

मरणसमं णत्थि भयं, छुहासमा वेयणा णत्थि।
वंछ समं णत्थि जरो, दारिद्दसमो वइरिओ णत्थि॥

आचार्य महोदय ने कहा संसार में चाहे कितने भी भय हों-

इहलोक परलोक भय, मरण वेदना जास।
अगुप्ति अरक्षा भय, अकस्मात् भय सात॥

ये सात प्रकार के भय या सम्यग्दृष्टि के जीवन में संसार का संवर्धन न हो जाये, संसार न बढ़े इसीलिये पाप या सावद्य कृत्य से बचने के लिये तत्पर रहता है, कहीं पाप न लग जाये वह भी भयभीत रहता है। किन्तु इन सबसे ज्यादा भय किसी को रहता है तो हमेशा प्राय:कर के मृत्यु का भय अधिक खलता है। तत्त्वबोध के बिना मृत्यु के भय से मुक्ति नहीं मिल सकती। अन्य प्रकार के भय का समाधान तो वह खोज लेता है, कोई बात नहीं शरीर में रोग आ गया चलो औषधि सेवन करूँगा, धन नष्ट हो गया पुन: कमाऊँगा, यदि मित्र छूट गये तो नये मित्र बनाऊँगा। मकान किसी ने हड़प लिया तो दूसरे मकान की खोज करूँगा, दुकान कम चलती है तो पुरुषार्थ करूँगा, यथेच्छ लाभ नहीं मिल रहा है, परिश्रम की गति बढ़ाऊँगा, यथेष्ट

प्रतिष्ठा ख्याति प्राप्त नहीं हुयी तो मैं सुकार्य आदि और करूँगा किन्तु मृत्यु के समय उसका कोई बस नहीं चलता, मृत्यु आयेगी तो अब क्या करूँ इसीलिये वह मृत्यु से हमेशा भयभीत रहता है।

मौत एक बार तो ज्ञानी पुरुष को भी सोचने पर मजबूर कर देती है किन्तु जब वह ज्ञानी पुरुष तत्त्वज्ञान के दिव्य प्रकाश के साथ अपनी आत्मा के शाश्वत और सुरक्षित सदन में प्रवेश करता है तब उसे मृत्यु का भय नहीं सताता, तब वह निर्भीक अवस्था को प्राप्त करता है। मृत्यु का भय कैसे लगता है, यह बताने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि उस समय इन्द्रियाँ और मन स्वत: ही इतने जागरुक हो जाते हैं जितना जागरुक शायद बुद्धिपूर्वक न हो पाये। यदि किसी भवन में आग लगी हो, आप उसके मध्य विराजित हैं, किसी कार्य में संलग्न हैं अचानक आपका उपयोग गया तो कब आपके हाथ से जो कार्य कर रहे थे वह कॉपी पेन गिर गया जिस उपकरण से काम कर रहे थे वह कब गिर गया, कब आप खड़े होकर बाहर आ गये मालूम नहीं चला। अचानक पैर अग्नि पर पड़ जाये स्वत: ही हमने पैर कब उठा लिया, कब हमारा हाथ स्वयं उठ गया, बुद्धि का प्रयोग शायद आपने नहीं किया किन्तु सहज प्रवृत्ति हो गयी क्योंकि मृत्यु आत्म प्रदेशों के मध्य ही विराजमान है और उससे बचने का प्रयास व्यक्ति बाहर से करता है और जब तक अंतरंग में मृत्यु के कारण को और मृत्यु के निवारण के हेतु को नहीं समझेगा तब तक उसका भय बना ही रहेगा।

एक समय कुछ ग्रामीण महानुभाव भक्तिभाव के साथ तीर्थयात्रा करने के लिये चले, वे पदयात्री श्रद्धापूर्वक पदयात्रा करके लौटने लगे, मार्ग कुमार्ग था, राजपथ नहीं इसीलिये वे मार्ग की प्रतिकूलतायें सहन करते आ रहे थे। देखा अचानक कि मौसम प्रतिकूल हो रहा है इसीलिये कहीं बचने का स्थान देखें। उस अरण्य में उन्हें एक

खण्डहर दिखाई दिया, उस खण्डहर में वे सभी तीर्थयात्री छिप गये, मौसम और खराब हुआ आकाश श्याम सघन मेघों से घिर गया मूसलाधार वर्षा होने लगी, आकाश में बिजली कड़कने लगी बार-बार बिजली गिरती ऐसा लगता कि न जाने कब किसके प्राण ले ले। जिस खण्डहर में वे सभी तीर्थयात्री ठहरे हुये थे वहाँ तक भी बिजली बार-बार आ रही थी किन्तु आकर पुनः लौट जाती।

उन लोगों ने कहा संभव है हममें से कोई एक ऐसा पापी जीव है जिसके कारण बिजली आती है। कहीं ऐसा न हो उस पापी के कारण हम सब मृत्यु को प्राप्त हो जायें, क्योंकि वह तो बचेगा नहीं किन्तु हम उसके साथ क्यों मृत्यु के शिकार हों। वह पापी जीव हम नहीं जानते कौन है किन्तु अब उसकी परीक्षा लेते हैं और परीक्षा का उपाय ये है कि इस खण्डहर में से सभी व्यक्ति क्रमशः उस सामने वाले वृक्ष को छूने जायेंगे, जो पापी होगा बिजली उसके ऊपर गिरेगी, वह मृत्यु को प्राप्त होगा, हम सब बच जायेंगे। सर्व सम्मति से सबने यह निर्णय ले लिया। एक व्यक्ति यह भी कह रहा था कि शायद हम सब के साथ वह भी बच जाये इसीलिये ऐसा कुछ मत करो किन्तु सबने कहा ये ठीक रहेगा और पुनः क्रमशः एक-एक व्यक्ति जाने लगे और वृक्ष को सकुशल छूकर लौटकर आने लगे। जो लौटकर के आ जाता वह स्वयं को बड़ा ही निश्चिंत और पुण्यात्मा मानकर प्रसन्न होता कि मैं तो पुण्यात्मा हूँ मैं नहीं मरा। ऐसे करते-करते लगभग सभी यात्री हो गये केवल एक यात्री बचा।

अब उससे भी कहा-भाई! तुम भी जाओ वृक्ष को छूने के लिये, वह बेचारा रोने लगा दुःखी हो गया कहने लगा संभव है आप सभी ही पुण्यात्मा हैं मैं ही पापी हूँ क्योंकि बिजली आप में से किसी के ऊपर नहीं गिरी अब मेरे जाते ही बिजली मेरे ऊपर गिर जायेगी, आप मुझको मत भेजो, किन्तु सब लोगों ने कहा-तू पापी जीव है ,क्या तू

अपने साथ हमको भी मृत्यु में धकेलना चाहता है, नहीं हम तुझे यहाँ स्थान नहीं दे सकते, और सभी ने धक्का देकर के उसे उस खण्डहर के बाहर कर दिया। बेचारा पीछे मुड़-मुड़ कर देखता हुआ वृक्ष की ओर जा रहा है कभी ऊपर बिजली की ओर देखता कब गिरने वाली है, कब मृत्यु को प्राप्त होऊँ किन्तु कहता है-प्रभु! यदि मेरी मृत्यु से इनकी प्राण रक्षा होती है तो मैं अपने प्राण देने को तैयार हूँ, जीवन में मैंने किसी के प्राण नहीं लिये मेरे कारण यदि इनके प्राण संकट में पड़े हैं तो उन्होंने उचित निर्णय लिया। वह यात्री जैसे ही वृक्ष के पास पहुँचा वृक्ष को छूकर लौट भी नहीं पाया था कि तब तक वह बिजली खण्डहर पर गिरी और वे सभी यात्री मृत्यु को प्राप्त हो गये।

महानुभाव! मृत्यु का भय किसे नहीं होता, केवल उसे ही जो मृत्यु को जीर्ण वस्त्र की तरह से समझता है जो जानता है शरीर का परित्याग हुआ है आत्मा तो मेरी शाश्वत है। द्वितीय बात आचार्य महोदय कहते हैं 'छुहासमा वेयणा णत्थि' क्षुधा के समान कोई वेदना नहीं।

भूख की वेदना को वही जान सकता है जिसने कभी भूख सहन की हो। मुख्यता से व्यक्ति जितने पाप करता है उन सबका कारण भूख ही है। भूख शान्ति के लिए अपने सिद्धान्त अपने संकल्पों तक से समझौता कर लेता है। कई बार तो भूख की वेदना इतनी तीव्र होती है कि व्यक्ति को ऐसे लगता है जैसे अब जीवित नहीं बचूँगा।

एक बार एक परिवार जिसमें दंपत्ति और उनके तीन बच्चे थे। व्रतों का समय आया। माँ ने उपवास रखा। माँ को उपवास करते देख बालक ने स्वयं उपवास करने की जिद की। माँ ने बहुत समझाया किंतु वह नहीं समझा, तब माँ ने उसका उपवास करा दिया। अब कुछ समय तो ठीक रहा, फिर बार-बार समय देखता। माँ से कहा-माँ कुछ खाने को दे दो, माँ ने कहा बेटा! पूरा दिन तो निकल

गया, अब रात्रि हो रही है, सो जा, सुबह उठते ही दे दूँगी। बालक को समझाया। किन्तु वह थोड़ी-थोड़ी देर में उठता रहा। मध्य रात्रि में बालक ने अपनी माँ को जगाया और बोला 'माँ! आपके कितने बेटे हैं?' माँ ने कहा ये कैसा प्रश्न है। वह बोला 'नहीं बताओ ना।' माँ ने कहा-तीन। पुनः बोला "माँ कल सुबह तक तो दो ही रह जाऐंगे।"

कहने का आशय है कि व्यक्ति क्षुधा की पीड़ा-वेदना को सहन करने में असमर्थ हो जाता है। बड़े से बड़े संकल्प को क्षुधाग्नि में भस्म करने को तैयार हो जाता है।

1576 में हल्दीघाटी के युद्ध में अकबर से पराजित होकर जब महाराणा प्रताप अरावली पर्वत के वनों में अपने परिवार तथा कुछ राजपूत सैनिकों के साथ जहाँ तहाँ भटकने लगे तब भोजन-पानी की व्यवस्था उनके पास नहीं थी। यहाँ तक की उनके बच्चों को भी घास की रोटियाँ भी दो-दो, तीन-तीन दिन तक नहीं मिलती थी। भूख की पीड़ा बच्चों के लिए तो असह्य थी ही। उनकी इस पीड़ा को देख महाराणा प्रताप बहुत दुःखी हुए और हताश होकर राजस्थान छोड़ने का मन भी बना लिया। इतना ही नहीं अपना स्वप्न और राज्य छोड़ने तक को तैयार हो गए। यथार्थता में क्षुधा से भयानक वेदना कोई नहीं है। बाद में तो भामाशाह आए, उन्होंने बहुत धन दिया। कहा जाता है कि उस धन से 25 हजार सैनिकों का 12 वर्ष तक का खर्च पूरा हो सकता था। फिर तो पुनः चित्तौड़गढ़ व माण्डव गढ़ को छोड़ संपूर्ण मेवाड़ पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया।

महानुभाव! यहाँ यही कहा कि क्षुधा की वेदना के समान अन्य वेदना नहीं है। जब क्षुधा की वेदना होती है तब कहते हैं सर्पिणी अपने बच्चों तक को खा लेती है, क्षुधा की वेदना जब सताती है तब व्यक्ति भक्ष्य-अभक्ष्य को नहीं गिनता, जो मिलता उसे खा लेता है।

जीव मिट्टी तक खा लेता है यहाँ तक कि कड़वे अपक्व या प्रकृति विरुद्ध पदार्थों का भी सेवन कर लेता है, आमिष भोजन तक भी व्यक्ति करते हैं किन्तु क्षुधा भोजन से नष्ट नहीं होती, भोजन से क्षुधा का शमन किया जाता है कुछ समय के लिये, क्षुधा नष्ट होती है आप जो पढ़ते हैं-'क्षुधारोग विनाशनाय नैवेद्यं निर्वपामीति स्वाहा।' श्री जी के चरणों में नैवेद्य चढ़ाने से क्षुधा रोग का क्षय होता है अथवा आत्म रस का उपभोग करने वाला व्यक्ति भी क्षुधा का शमन करता है।

तृतीय बात कही 'वंछसमं णत्थि जरो' वांछा के समान कोई बुढ़ापा नहीं, जब मन में वांछा आती है, अभिलाषा आती है, कामना होती है तो व्यक्ति जर्जर हो जाता है वह जर की वांछा शरीर को जर्जर कर देती है। तो कहा वांछा के समान कोई व्याधि नहीं है।

अंगं गलितं पलितं मुण्डं, दशनविहीनं जातं तुंडं।
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं, तदपि न मुञ्चत्याशापिण्डम्॥

शरीर गल गया, मस्तक सफेद हो गया, मुख दाँतों से रहित हो गया, वृद्ध मनुष्य लाठी लेकर चलता है तो भी आशा पिंड नहीं छोड़ती।

वांछा करता हुआ व्यक्ति जर्जर स्थिति तक पहुँच जाता है, आशा पूर्ति के लिए अपना सब गँवा देता है चाहे तन, मन व धन किंतु उसकी इच्छाएँ कभी पूरी नहीं होती। देह में लगी व्याधि उस भव में पीड़ा दे सकती है उस भव को नष्ट कर सकती है किंतु इच्छा तो ऐसी व्याधि है जो भव-भव में पीड़ा देती है, कई भव नष्ट कर देती है।

आशा नाम नदी मनोरथजला तृष्णातरंगाकुला,
रागग्राहवती वितर्कविहगा धैर्यद्रुमध्वंसिनी।

मोहावर्तसुदुस्तराऽतिगहना प्रोत्तुंगचिन्तातटी,
तस्याः पारगता विशुद्धमनसो नन्दन्ति योगीश्वराः॥

आशा एक नदी है, जिसमें मनोरथरूपी जल भरा हुआ है, जो तृष्णा रूपी लहरों से व्याप्त है, राग रूपी मगरमच्छों से सहित है, धैर्य रूपी वृक्षों को उखाड़ने वाली है, मोह रूपी भँवर से जिसका तैरना अत्यन्त कठिन है, बहुत गहन है और चिन्ता रूपी ऊँचे तटों से सहित है। ऐसी भयंकर नदी को जिसने पार कर लिया है, वे विशुद्ध मन वाले मुनिराज सुख-समृद्धि से सहित हैं।

सुखी तो वही हो सकता है जिसने इच्छाओं पर विजय प्राप्त कर ली है।

चाह गयी, चिंता गयी, मनवा बेपरवाह।
जिसे कछु न चाहिए, वे शाहन के शाह॥

अंतिम पद में कहा है **'दारिद्दसमो वइरिओ णत्थि'** संसार में यदि अन्य कोई बैरी हैं तो उनसे बचा जा सकता है किन्तु दरिद्रता सबसे बड़ी बैरी है, दुश्मन है।

दरिद्रता के विषय में मनीषियों ने कहा-

द्रारिद्र्यादपरं नास्ति, जन्तूनामरुन्तुदम्।
अत्यक्तं मरणं प्राणैः, प्राणीनां हि दरिद्रता॥

दरिद्रता से बढ़कर अन्य कोई वस्तु प्राणियों के मर्म को पीड़ा पहुँचाने वाली नहीं है। दरिद्रता प्राणियों का प्राण सहित मरण है।

दरिद्रता को सबसे बड़ा शत्रु कहा है। जिस प्रकार शत्रु के प्रतिपल साथ रहने वाला व्यक्ति प्रसन्न नहीं रह सकता, उसके इष्ट कार्य में वह शत्रु बार-बार बाधा उत्पन्न करता है, कुछ भी श्रेष्ठ उसके पास टिकने नहीं देता, साथ रहने वाला शत्रु उसके मित्रों को यद्वा-तद्वा कहकर उससे दूर कर देता है उसी प्रकार दरिद्रता रूपी बैरी

जब साथ में रहती है तो अपने संबंधी, मित्र, श्रेष्ठ वस्तुएँ सब साथ छोड़ देती हैं।

जीवन में इन चारों से बचना है। आचार्य महोदय ने लिखा है मृत्यु, क्षुधा, कांक्षा और दारिद्रता गृहस्थ के लिये ये चारों ही अभिशाप हैं। इन चारों से बचने के लिये, मृत्यु से बचने के लिये तत्त्वबोध, वेदना को नष्ट करने के लिये समत्व और कांक्षा को नष्ट करने के लिये आत्म रस का आस्वादन और दरिद्र रूपी बैरी से बचने के लिये स्व साम्राज्य की प्राप्ति जो कि रत्नत्रय के द्वारा संभव है।

महानुभाव! आप आत्मीय वैभव को प्राप्त करने का सम्यक् पुरुषार्थ करें, चार प्रकार के अभिशापों से बचें, हम आपके प्रति मंगल भावना रखते हैं, आप सभी का कल्याण हो, शुभ हो इन्हीं सद्भावनाओं के साथ....॥

"जैनं जयतु शासनं"

आभरण

महानुभाव! संसार में जो पदार्थ प्राकृतिक हैं वे अपने आप में सहज सुंदर हैं, प्रकृति अनादिकाल से अनंत काल तक, अनंत सौंदर्य से युक्त है। किन्तु जो अवस्थायें सहज नहीं होती हैं उन अवस्थाओं को सहज बनाने के लिये अथवा उन्हें सौंदर्य प्रदान करने के लिये आभरणों की आवश्यकता होती है। व्यवहार जगत् में यह माना जाता है आभरण के माध्यम से व्यक्ति और वस्तु की सुंदरता बढ़ जाती है। आप कोई मकान भी बनाते हैं चार दीवार खड़ी करके और उसमें आपने छत डालकर दरवाजा लगा लिया, खिड़की लगा ली किंतु जब वह मकान आपको सुंदर नहीं लगता है तब उस मकान में अनेक प्रकार की सीनरी लगाते हैं, उस मकान की छत पर कुछ पुष्पों के गमले रखते हैं, मुख्यद्वार पर वन्दनवार तोरण द्वार लटकाते हैं, कहीं स्वास्तिक और मंगल कलश लगाते हैं, कहीं अन्य-अन्य प्रकार के सौन्दर्य से उसे इतना सुंदर बनाते हैं जिससे आपका परिणाम विशुद्ध रहे, आपके विचार निर्मल रहें, आपको सुख और शांति की अनुभूति हो।

सहज अवस्था में रहने वाले बालक और बालिका बिना आभरण और आभूषणों के भी सुंदर लगते हैं किंतु यौवन अवस्था को प्राप्त होकर के चाहे कन्या हो या कुंवर वह अपने शरीर को संस्कारित करने के साथ-साथ आभरणों के माध्यम से सजाने का भी प्रयास करता है। बाह्य आभरण के माध्यम से शरीर को सजाना मानो शरीर को सजा देना है। जो अपने तन को बाह्य आभरण से सजाता है मानो वह अपने आपको सजा देता है। किन्तु जो अंतरंग के गुणों के माध्यम से, विशेषताओं के माध्यम से, अच्छाईयों के माध्यम से, अपने आपको सजाने का प्रयास करता है नि:संदेह उसका सौन्दर्य सहज ही निखरने लगता है, प्रकट होने लगता है और दूसरों के लिये भी सुखद और शांति प्रदायक होता है। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर एक

समाज सुधारक और परम मातृभक्त थे। 'मातृदेवो भव' के पाठ को उन्होंने अपने जीवन में आत्मसात् कर लिया था। गरीबों की मदद करना तथा असहायों को सहारा देना उन्होंने बचपन से अपनी माँ के संस्कारों से सीखा था। बड़े होने पर उनका यश भी फैलने लगा।

एक बार उनकी वृद्ध माँ अस्वस्थ हो गई। वे अपनी माँ के पास जाकर कहने लगे-माँ! मैंने आज तक तुम्हारे लिये कुछ नहीं किया। संघर्ष करके हर्ष पूर्वक आपने मुझे पाल-पोस कर इस योग्य कर दिया कि मैं तुम्हारे लिये कुछ कर सकूँ। मैं चाहता हूँ कि तुम्हारे लिये कुछ आभूषण बनवा दूँ। माँ मुस्कराते हुए धीमे स्वर में बोली-बेटे! तूने अपनी माँ के मन को अभी तक नहीं पहचाना है। वह प्रकट रूप से कहने लगी-अगर तेरी इच्छा मेरे लिये आभूषण बनवाने की है, तो यह प्रसन्नता की बात है।

विद्यासागर ने पूछा-माँ कितने आभूषण बनवाऊँ? माँ ने कहा-अभी तो तीन आभूषण ही बनवा दो। वो काफी होंगे। विद्यासागर ने सोचा-अच्छा हुआ, मैंने आज पूछ लिया, अन्यथा माँ के मन में आभूषण के अभाव का दंश सालता रहता। उन्होंने उत्साहित होकर माँ से कहा-माँ तीन आभूषण मोतियों का हार, हाथों में कंगन, और सोने के गल्पटिया, ये ठीक रहेंगे? माँ बोली-नहीं बेटा! इनमें मेरी रुचि नहीं है। विद्यासागर विनम्र भाव से माँ से पूछने लगा-'माँ! तुम अपनी पसन्द के आभूषण बता दो, मैं वही बनवा दूँगा। माँ ने मुस्कराते हुए कहा-पहला आभूषण एक स्कूल, दूसरा एक अस्पताल और तीसरा एक अनाथालय। स्कूल में सैंकड़ों बच्चे पढ़ेंगे और संस्कारी बनेंगे। अस्पताल में बीमार लोगों को यथोचित चिकित्सा-सुविधा मिल सकेगी, जिससे वे स्वस्थ और निरोगी जीवन बिता सकेंगे और अनाथालय में बेसहारा लोगों को एक आश्रय स्थान मिल सकेगा। मेरे ये तीन आभूषण हैं अगर बनवा सके तो बनवा देना। शिक्षा, स्वास्थ्य

और संरक्षण जीवन के ये तीन शिरोमणि आभूषण हैं। माँ के इस रहस्य को ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने यावत् जीवन शिरोधार्य कर साकार किया।

यहाँ पर नीतिकार कह रहे हैं कि वास्तव में मनुष्य का आभरण क्या है? चोटी या जनेऊ, कण्ठीमाला या बाजूबंद, कंगन या मुद्रिका या करधनी, क्या ये वास्तव में मनुष्य के आभरण हैं या नारी के आभरण क्या हार या केयूर, कुण्डल, तिलक, मणि, वलय, मुद्रिका, करधनी, मुक्ताहार आदि हैं? इन्हें तो लोक व्यवहार में आभरण माना जाता है, सत्यता ये है लज्जा ही स्त्री का आभरण है, शील, मर्यादा, धर्मज्ञता, धर्मवत्सलता ही उसका आभरण है। ऐसे ही नीतिकार कह रहे हैं कि पुरुष का आभरण क्या है, रूप का आभरण क्या है, ज्ञान का आभरण क्या है, गुणों का आभरण क्या है तो बता रहे हैं-

नरस्याभरणं रूपं, रूपस्याभरणं गुणः।
गुणस्याभरणं ज्ञानं, ज्ञानस्याभरणं क्षमा॥

मनुष्य का आभरण है उसका सहज सौंदर्य। यदि सहज में उसके अंदर अच्छाई नहीं है, सद्गुण नहीं हैं, सुभगनामकर्म नहीं है तो बाहर से कितने भी आभूषण पहने जायें उसके स्वजन भी फिर उसे चाहते नहीं हैं। उसके माता-पिता भी कई बार अपने पुत्र से विद्वेष बनाकर रखते हैं, भाई बंधु भी विद्वेष बनाकर रखते हैं। जीवन साथी भी कई बार अपने कामदेव जैसे पति से भी रुष्ट हो जाती है, पुत्र भी अपनी माता से रुष्ट हो जाते हैं। तो व्यक्ति का सहज आभरण है उसका सहज स्वभाविक रूप। दिगम्बर साधु सहजता में जीते हैं प्रकृति में जीते हैं इसीलिये उनको आभरणों की आवश्यकता नहीं पड़ती है। सहजोत्पन्न निर्विकारी मुद्रा ही उनका एक आभरण है।

जिसका सहज स्वरूप सुंदर है तो वह सहज स्वरूप कैसे संस्कारित होता है? उसका सौंदर्य कैसे वृद्धि को प्राप्त होता है तो

कहा-'रूपस्याभरणं गुणं' रूप का आभरण होता है गुण। किसी व्यक्ति की शोभा उसके सहजस्वरूप से है। स्वरूप की शोभा उसके गुणों से है। यदि कोई व्यक्ति भले ही श्यामवर्ण का हो या गौर वर्णी हो, गेहूँआ या नीलिमा युक्त वर्ण का हो या लालिमा युक्त वर्ण का हो या तपाये हुये स्वर्ण सा हो किन्तु उसके शरीर में सहज ही कोई आकर्षण नहीं है, छवि नहीं है तो वर्ण कुछ भी नहीं करता।

कई बार आपने देखा होगा, कोई बालक या बालिका श्याम वर्ण के हैं तब भी कहते हैं बड़े सुंदर लग रहे हैं चेहरे पर कितनी छवि है, क्या सौंदर्य है और कई बार जो व्यक्ति गौर वर्ण का है तब भी उसे देखने की इच्छा नहीं होती उसका सहज स्वरूप सौंदर्य नहीं है। और जिसका सहज सौंदर्य नहीं है अनुपात में नाक, मुख और आँख मस्तक आदि नहीं हैं तो कितना भी गौर वर्ण का व्यक्ति हो व्यर्थ है। तो रूप से व्यक्ति के शरीर की शोभा होती है और गुणों के माध्यम से रूप की शोभा होती है। यदि उसका लावण्य सहज सौंदर्य स्वयं के लिये सुख शांति देने वाला है देखने वाले को भी सुख शांति देने वाला है, यदि उस रूप के साथ में गुण भी हों तो फिर उसे देखकर के और भी आनंद आता है। ऐसा लगता है जैसे सोने पर सुहागा, जैसे दूध में मिशरी, जैसे अमृत में मिठास आ गयी हो जैसे इक्षु के वृक्ष में पुष्प खिलने लगे हों, या गुलाब के पादपों पर भी फल लग गये हों अर्थात् दो अच्छाईयाँ एक साथ मिल जाना।

सहज सौंदर्य संयुक्त शरीर का प्राप्त होना, उस स्वरूप के साथ सद्गुणों का प्राप्त होना, चाहे सदाचार, शिष्टाचार, शील, सत्यवादिता, धर्मनिष्ठा, कर्त्तव्यशील, क्षमाशील इत्यादि बहुत सारे गुण हो सकते हैं ये गुण जिस व्यक्ति में पाये जाते हैं तब वह निःसंदेह देवों के समान सम्मान को, आदर को प्रशंसा को एवं पूज्यता को प्राप्त करता है। तो कहा रूप का आभरण गुण हैं।

अब आगे कहा गुणों का भी आभरण क्या है, गुण भी कब शोभा को प्राप्त होते हैं यदि किसी के पास बहुत सारे गुण हैं किन्तु विवेक नहीं है, बुद्धि नहीं है, सद्विचार नहीं है किसी के भावों को समझने की क्षमता नहीं, अपने भावों को प्रकट करने की क्षमता नहीं है, शब्द संभाल के नहीं बोल सकता, उसके शब्द मूर्खतापूर्ण निकलते हैं, उनके शब्दों में कोई विवेकशीलता की बात झलकती ही नहीं जब भी बोलता है मूर्खताभरी बात बोलता है। तब फिर कितने भी गुण हों सदाचारी, शिष्टाचारी भी है पर उसके गुण शोभा को प्राप्त नहीं होते। इसीलिये यहाँ नीतिकार कह रहे हैं कि गुणों की शोभा भी सद्विवेक से है, सम्यग्ज्ञान से है, बुद्धि की कुशलता से है।

चलो ठीक है उसके पास शरीर सुंदर है, छवि युक्त है और रूप भी गुण से सहित है, उसके गुण ज्ञान से युक्त हैं जैसे किसी व्यक्ति ने मकान बनवाया, मकान का नक्शा ठीक है, तो फिर उसमें क्या करना? तब उसमें सामग्री भी ठीक हो और कौन सी वस्तु कहाँ होना चाहिये यह भी देखना जरूरी है, कहाँ पर पूजा गृह हो, कहाँ पर रसोई हो, कहाँ पर स्नानगृह हो, कहाँ पर शयनकक्ष हो, कहाँ मुख्य द्वार हो, कहाँ पर स्टोर हो यह सब देखना-जानना जरूरी है। अब जब यह सब भी ठीक हो तब उसे नाना प्रकार के सौन्दर्यीकरण चित्र, सीनरी आदि से सजा दें तो यह हो गया गुणों की तरह से है। अब सब कुछ ठीक है किन्तु एक कमी अभी भी है जिसके कारण शोभा नहीं आ रही है, वह कमी क्या है? तो वह कमी है अंधकार। अभी उस मकान में अंधेरा है इसीलिये प्रकाश आवश्यक है तो ज्ञान का दीपक जलाओ। ऐसे ही रूप है, गुण है पर ज्ञान का दीपक नहीं है तो जिस प्रकार सुंदर भवन में प्रकाश भी जरूरी होता है उसी प्रकार गुणों से युक्त जीवन में सम्यग्ज्ञान का प्रकाश भी जरूरी है।

किन्तु अभी भी कह रहे हैं कि एक कमी रह गयी, अब क्या कमी रह गयी भाई? अरे! सद्विवेक तो आ गया बहुत अच्छा उपदेश भी देता है। इतना ही नहीं लेखन भी करता है। उसकी पुस्तकें बाजार में आयें उससे पहले ही उसके अनेकों ग्राहक ललचाये रहते हैं वह बहुत विद्वान् है। अब क्या कमी रह गयी? तो अब कह रहे हैं ज्ञान कैसे शोभा को प्राप्त होगा तो कहा-'ज्ञानस्याभरणं क्षमा' जब तक ज्ञान के साथ क्षमा गुण नहीं आये तो फिर वह ज्ञान भी शोभा को प्राप्त नहीं होता। जैसे बुझे हुये दीपक से प्रकाश नहीं मिलता, ज्योति से रहित दीपक शोभा को प्राप्त नहीं होता ऐसे ही क्षमा से रहित ज्ञान शोभा को प्राप्त नहीं होता।

यह तो ऐसे हुआ जैसे उस पूरे नव निर्मित सुंदर मकान में सदाचारी, शिष्टाचारी धर्मात्मा मनुष्यों का रहना। ऐसे ही उस पुरुष का शरीर अच्छा है, पुरुष में गुण भी हैं, ज्ञान भी है अब यदि वह महापुरुष है तो उसमें क्षमा भी होनी चाहिये। यदि वह महापुरुष है तो वह सहज में सुंदर होगा, गुणवान् भी होगा, ज्ञान का भी धनी होगा किन्तु ये तीन चीज प्राप्त होने के बाद भी यदि उसमें क्षमा भाव नहीं है तो समझो वह 0/100 है वेल्यू कुछ भी नहीं अरे! आपने ऐसा कैसे कह दिया, उसने 100 में से 75 नंबर तो प्राप्त कर लिये? पर ये तो आप कह रहे हैं किन्तु अंत के 25 नंबर प्राप्त नहीं किये तो उन 75 का मान भी शून्य ही होता है। मतलब? मतलब ये है जैसे आप जानते हैं कि कहीं तीन शून्य लगा दें और प्रारंभ में एक का अंक न लगायें तो उन तीन शून्यों का क्या महत्त्व है? कोई महत्त्व नहीं है, ऐसे ही किसी महापुरुष के जीवन में उत्तम क्षमा का भाव नहीं पर वह महापुरुष बहुत ज्ञानी है एक बार उत्तर देने से सैकड़ों व्यक्तियों की जिज्ञासाओं का समाधान कर देता है वह इतना सद्गुणी है कि उसके पास बैठकर भी शांति मिलती है रूपवान् तो है ही

किन्तु उसमें एक कमी है क्या? वह क्षमा नहीं कर पाता क्षमा का अभाव है। भैया गर क्षमा का अभाव है तब तो महापुरुष के वह समस्तगुण शून्यवत् हो गये। जैसे किसी घट में जल तो भर दिया किन्तु जल भरते समय उसमें नीचे से छेद कर दिया तो छिद्र युक्त कलश में पानी ठहर नहीं सकता। क्या फर्क पड़ता है कि एक बाल्टी पानी डाला या छः बाल्टी डाला ऐसे ही क्षमा भाव से रहित यदि कैसा भी महापुरुष हो तो वह अपने सद्गुणों को, ज्ञान को एक क्षण में नष्ट कर सकता है।

जैसे कोई किसान अपने खेत में अच्छी फसल करता है उसने खेत को जोता भी, अच्छा बीज बोया, सिंचाई की, उसकी फसल भी आ गयी किन्तु फसल आने के बाद उस सूखी फसल में एक अग्नि की चिंगारी गिर गयी तो क्या मिलेगा किसान को? कुछ भी नहीं मिलेगा। उस चिंगारी के गिरते ही सब स्वाहा हो जायेगा ऐसे ही थोड़े क्रोध की अग्नि भी महापुरुष के जीवन में आ गयी तो समझो उस महापुरुष का जीवन प्रशंसनीय से निंदनीय बन जाता है।

तो यहाँ कहा कि 'ज्ञानास्याभरणं क्षमा' ज्ञान का आभरण क्षमा है। जितने ज्ञानशील, विवेकशील व्यक्ति होंगें वे क्षमाशील भी होते हैं वे सहजता में जीते हैं। उनकी क्षमाशीलता का प्रभाव केवल उनको सुख शांति नहीं देता है वरन् उनकी क्षमाशीलता का प्रभाव दूसरों के लिये भी सुख-शांति का निमित्त बनता है।

एक गाँव में एक जुलाहा कपड़े बुनता और सादगी से रहकर ईश्वर भक्ति में लीन रहता। प्रतिकूल परिस्थितियों में भी क्रोध नहीं करता क्योंकि वह लोभ और लालच से दूर था। लोग उसे संत जुलाहा कहते थे।

उसी गाँव में एक रईस बाप का बेटा था जो घमंडी, झगड़ालू और क्रोधी स्वभाव का था। एक दिन वह अपने मित्रों के साथ खड़ा

था उसने सामने खड़े जुलाहे को देखा और बोला चलो इसको मजा चखाते हैं। वह जुलाहा के पास आया और एक धोती खरीदने की बात कही। जुलाहे ने प्रेम से धोती दिखाई और दस रुपये मूल्य बताया। उस धनी बाप के बेटे ने धोती के दो टुकड़े करके पूछा-इस आधी धोती का मूल्य क्या होगा? जुलाहे ने शान्तिपूर्वक कहा-'केवल पाँच रुपये।' लड़के ने पुनः आधी धोती के दो टुकड़े कर दिये और धृष्टता पूर्वक बोला इस चौथाई भाग का क्या लोगे? जुलाहे ने पुनः शान्त भाव से कहा-ढाई रुपये।

लड़के ने चौथाई टुकड़े के दो भाग करके पूछा-'अब कितने रुपये दूँ'? उत्तर मिला-'सवा रुपया।' अन्त में वह बोला-अब यह मेरे काम की नहीं रही अतः इसे नहीं खरीदूँगा। जुलाहा शान्त रहा। जुलाहे के इस शांत स्वभाव और क्षमा भाव को देख उस युवक को अपनी गलती का एहसास हुआ। उसकी आँखें भर गयी। युवक ने हाथ जोड़कर कहा "भाई! मैं तो तुम्हें परेशान करने ही आया था किन्तु आज तुम्हारे इस स्वभाव से मुझे अपने ऊपर ग्लानि हो रही है। मैंने अपने दादा जी से सही सुना था कि क्षमा की ताकत क्रोध की ताकत से बड़ी होती है। मैं संकल्प लेता हूँ आज से किसी को बेवजह परेशान नहीं करूँगा, क्रोध पर नियंत्रण रखूँगा।" यह कहकर युवक 10 रु. देकर चला गया।

एक व्यक्ति की क्षमा कई लोगों के हृदय को परिवर्तित कर सकती है। व्यक्ति को ताकत क्रोध के लिए नहीं, चुप रहने के लिए चाहिए। और क्रोध करने की आवश्यकता भी क्या है। यदि सही हैं तो क्रोध की जरूरत नहीं और गलत हैं तो अधिकार नहीं।

इसीलिये महानुभाव! इन चार बातों को यदि आप अपने जीवन में धारण करोगे तब संभव है आपको भी सहज सुख-शांति की प्राप्ति हो सकेगी। यदि इन चार बातों को आपने ग्रहण नहीं किया तो हमारा

तो कोई अहित नहीं होगा, गुरुओं का कर्त्तव्य तो सद्उपदेश देने का है। आप उस उपदेश को स्वीकार करो, क्योंकि बिना स्वीकार किये मात्र सुनना कार्यकारी नहीं है।

हर सहारा बेअमल के वास्ते बेकार है,
गर आँख ही खोले नहीं, तो कोई उजाला क्या करे।

इसीलिये हमें अपनी आँख खोलना है, इन अच्छाईयों को ग्रहण करना है तभी हमारा जीवन सुखमय-शांतिमय बनेगा। आपका जीवन सुखमय बने, शांतिमय बने, विशुद्धि से युक्त हो, परम लक्ष्य को प्राप्त करने में आप समर्थ हों ऐसी मंगल भावना आपके प्रति भाते हैं, इन्हीं सद्भावनाओं के साथ....।।

"जैनं जयतु शासनं"

उपकरण

महानुभाव! प्रत्येक व्यक्ति अपने सहयोगी का सहयोग प्राप्त करके अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है। सहयोगी दो प्रकार का कार्य करता है एक तो बाधक साधनों को दूर करने में निमित्त बनता है दूसरे साधकतम साधनों को जुटाने में सहयोगी। इस सहयोगी को एक शब्द में कहें तो कहते हैं 'उपकारक'। कोई भी व्यक्ति अपने आप में सम्पूर्ण नहीं होता, उसे दूसरे की आवश्यकता पड़ती जरूर है। व्यक्ति की भी आवश्यकता पड़ती है और वस्तु की भी। बिना वस्तुओं के भी व्यक्ति बाह्य सिद्धियों को नहीं कर सकता और बिना व्यक्तियों के भी व्यक्ति अपने उद्देश्य को पूर्ण नहीं कर सकता।

वस्तु अचेतन रूप में सहकारी होती है तो व्यक्ति चैतन्य रूप में। चाहे कोई व्यक्ति व्यवहार जगत में ही क्यों न गमन कर रहा हो तब भी उसे सहायक की आवश्यकता होती है साथी की आवश्यकता होती है। कहते हैं साथी साथ में हो तो मंजिल पास आ जाती है, साथी यदि साथ में है तो कष्ट कम हो जाते हैं, साथी यदि साथ में है तो आवश्यक सामग्री का अभाव होने पर भी साथी के साथ में उसकी जरूरत नहीं पड़ती इसीलिये साथी-मित्र व्यवहार यात्रा में भी उपकारक है। यदि कोई पग विहार कर रहा हो तो मित्र से चर्चा करते-करते रास्ता जल्दी पार हो जाता है। ऐसे ही जो मोक्षमार्ग में गमन कर रहे हैं उन्हें भी साथी की आवश्यकता होती है।

साथी तीन प्रकार के होते हैं एक साथी अग्रज के रूप में, एक साथी जो साथ चलने वाला और तीसरा साथी पीछे से साथ देने वाला। मोक्षमार्गी में वर्तमान में प्रत्यक्ष में तीन साथी हैं पहले हैं आचार्य परमेष्ठी जो आगे चलकर के मार्ग निर्देश दे रहे हैं, दूसरे साथी हैं उपाध्याय परमेष्ठी जो साथ में मानों निर्देश देते हुये ही चल

रहे हैं और तीसरे साथी हैं साधु परमेष्ठी जो साधना करते हुये अनुकरण करते हुये चले आ रहे हैं।

महानुभाव! इनके साथ-साथ अन्य भी उपकरण हैं-उपकृत 'कृत' धातु का अर्थ कार्य के अर्थ में आता है, किंतु यहाँ पर उपकृत धातु एक अलग से है उपकार करने के अर्थ में। कार्य करना एक अलग है, उपकार करना भी एक कार्य करना है। यद्यपि करण शब्द का प्रयोग परिणामों से लिया जाता है जो अंतरंग के परिणामों को संभालने में सहायक हो और कार्य के परिणाम को संभालने में सहायक हों वे उपकारक कहलाते हैं उन उपकारकों को उपकरण कहते हैं।

जिनमार्ग में कौन-कौन उपकरण हैं तो आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी जी लिखते हैं-

उवयरणं जिणमग्गे, लिंगं जहाजादं रूवमिदि भणिदं।
गुरुवयणं पिय विणओ, सुत्तज्झयणं च णिद्दिट्ठं॥

आचार्य महोदय ने ऐसा लगता है इन चार उपकरणों में चार अनुयोगों का सार भर दिया हो। ऐसा लगता है ये चार शब्द और इन चार शब्दों के पीछे छिपे भाव चार कषायों को प्रतिहत करने वाले ये चार अमोघ अस्त्र हैं। ऐसा लगता है ये चार वस्तुयें अनंत चतुष्टय को प्रकट करने के लिये पर्वत की तरह से हैं। जैसे पर्वत से झरना झरता है वह सरिता बन जाता है ऐसे ही इन चार शब्दों से आगे चलकर के अनंत चतुष्टय प्रगट हो सकता है। ये चार पुरुषार्थ को सम्यक्त्वता प्रदान करने वाले हैं।

जिनमार्ग में चेतना का सबसे पहला उपकारक है "यथाजात दिगम्बर लिंग।" यथाजात अर्थात् जैसा शरीर हमारा जन्म के समय उत्पन्न हुआ था। माँ के गर्भ से जब जन्म लिया तब हम वस्त्राभूषण पहनकर नहीं आये। उस समय हमारे मन में कोई विकार नहीं, वचन

हमारे किसी प्रकार से असंगत, विकृत, परुश, कटु वा असत्य नहीं, उस समय हमारे शरीर को चेष्टायें भी कषाय से अनुरंजित नहीं तो ऐसा यथाजात दिगम्बर रूप। बाल्य अवस्था में जो होता है वह तो सहज होता है, बड़े होते-होते उस रूप में विकृतियाँ आने लगती हैं, इसीलिये कहा जिनमार्ग में स्थित होने के लिये **"निर्विकार बालक वत् निर्भय तिनके चरणन धोक हमारी"** जो बालक की तरह से निर्विकारी हैं, निर्भय हैं उनके चरणों में भव्य जीव त्रिकाल धोक लगाता है अपना कल्याण करने के लिये।

प्रत्येक मुनिराज अन्य परमेष्ठी को नमस्कार करते समय अपनी आत्मा को भी नमस्कार करते हैं। उनके द्वारा उनकी आत्मा भी पूज्य है, वे अपनी आत्मा को स्मरण करते हैं, गुणों का कीर्तन करते हैं और गुण कीर्तन करते-करते, अन्य का वंदन करते-करते खुद का वंदन हो जाता है। महानुभाव! यह दिगम्बर लिंग तो जिनमार्ग को प्राप्त करने का प्रवेश पत्र है। जिनमुद्रा को प्राप्त नहीं किया तो समझो आपने जिनत्व के मार्ग में प्रवेश ही नहीं किया, उसके इच्छुक हैं, उसकी भावना भा रहे हैं, उसमें रुचि रखते हैं, मार्ग में दृष्टि रखते हैं, आँखों से मार्ग प्राप्त कर लिया चलकर प्राप्त नहीं किया शब्दों से प्राप्त कर लिया कर्णगोचर मार्ग हो गया किन्तु आपने चलना प्रारंभ नहीं किया। चलना प्रारंभ करने का आशय है जब यथाजात दिगम्बर मुनि बन गये। सर्वसावद्य का त्याग कर दिया, पाँच महाव्रतों, पाँच समिति, तीन गुप्ति, पंचेन्द्रिय निरोध, षट् आवश्यक, शेष सात विशेष गुणों को स्वीकार किया, 34 उत्तर गुणों को स्वीकार किया ऐसी वह परम दिगम्बर, निर्विकार मुद्रा, परमशांत मुद्रा मोक्षमार्ग में सर्वप्रथम उपकरण है।

अब जब उसे प्राप्त कर लिया तो आगे क्या चाहिये? अभी और भी आवश्यक है क्योंकि केवल एक से तुम्हारा कल्याण नहीं होगा,

यदि केवल एक पकड़ लिया तो अभी तुमने केवल एक कदम आगे बढ़ाया है पहुँचे कुछ नहीं। एक कदम से कोई भी व्यक्ति मंजिल तक पहुँच नहीं सकता, कम से कम दो कदम चाहिये। जैसे संसार परिभ्रमण के लिये राग-द्वेष दो कदम होते हैं ऐसे ही मोक्ष मार्ग में एक से गमन नहीं होता। पहले दो कदम चाहिये ज्ञान और वैराग्य या फिर तीन कदम ले लो सम्यक्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र या फिर चार कदम ले लो वह फिर मुनिराज की अपेक्षा से हो गये सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के साथ तप। यदि कोई व्यक्ति एक ही पग से गमन करे उछलता कूदता तो वह थक जायेगा। ऊँचे पहाड़ को चढ़ नहीं पायेगा, नीचे उतर नहीं पायेगा। एक पैर से उछलकर चलेगा तो गिर पड़ेगा। इसीलिये दो पैर तो कम से कम चाहिये एक पैर से उछलकर कुछ दूर तक चला गया किन्तु दुर्गम मार्गों को तय नहीं किया जाता, कम से कम दो कदम चाहिये।

दो कदम माना साइकिल जैसी हो गयी। तो सोचता है उससे गति कम होगी, अब वह कहता है थ्री व्हीलर होना चाहिये उसकी स्पीड और ज्यादा हो गयी, अब और स्पीड बढ़ानी है तो अब फॉर व्हीलर होना चाहिये उसकी स्पीड और ज्यादा आ गयी, अब और ज्यादा चाहिये तो व्यक्ति अनेक-अनेक व्हीलर ट्रेन आदि बना दी किन्तु फिर? फिर हेलीकॉप्टर ऐरोप्लेन बना दिये किन्तु जब यान से जा रहे हैं तो पहिये की आवश्यकता नहीं। जब एकत्व विभक्त आत्मा में लीन हो गये तब फिर बाहर के उपकरणों की आवश्यकता नहीं पड़ी।

जिनेन्द्र भगवान् के मार्ग के लिये चार उपकरणों में पहला उपकरण था जिनमुद्रा। यथाजात दिगम्बर रूप यही प्रथम चिह्न कहा है। दूसरा है "गुरुवयणं पिय विणओ, सुत्तज्झयणं च णिद्दिट्ठं"

मोक्ष मार्ग में चलना तो प्रारंभ कर दिया, यथाजात दिगम्बर मुद्रा तो धारण कर ली ऐसे समझो कि कोई सुबह युद्ध में जाने के लिये

तैयार हो गया, बख्तर भी है, अस्त्र-शस्त्र भी पास में है, घोड़े पर सवार भी हो गया किन्तु आगे के लिये उसे कुछ और भी चाहिये, उसे अपने सेनापति का मार्ग दर्शन चाहिये यदि सेनापति का मार्गदर्शन नहीं मिलेगा तो वह शत्रुओं के द्वारा घिर जायेगा, मारा जायेगा और वह अपनी जननी की, जन्मभूमि की अपने धर्म की, कर्त्तव्य की संस्कृति की रक्षा नहीं कर पायेगा इसीलिये अपने आदर्श का अपने आगे चलने वाले मार्गदृष्टा का निर्देश परम आवश्यक है। मोक्ष मार्ग में भी जब साधक चलता है तो साधक के जीवन में एक जैसे कर्मों का उदय नहीं आता, कभी तीव्र पुण्य का उदय आ गया, उस तीव्र पुण्य के उदय में कितनी प्रतिकूलता आये तब भी हँस-हँस के सह रहा है, उसकी विशुद्धि बढ़ रही है आनंद आ रहा है, उपवास में भी चल रहा है, शरीर अस्वस्थ है तब भी चल रहा, किन्तु जैसे ही जीवन में पाप का उदय आता है तब सर्व अनुकूलता होने के बावजूद भी ये मन अनुकूल नहीं बन पाता है, ये मन पाप का चिंतन करने लगता है, संक्लेशता बनाता है इसीलिये आवश्यकता है 'गुरुवयणं' गुरुवचन की। गुरुवचन उस समय परम उपकारी होते हैं।

गुरुवचन किस तरह उपकारी हैं? जैसे एक वैद्य किसी रोगी के लिये औषधि सेवन का निर्देश देता है यदि निर्देश नहीं दे तो वही औषधि जो रोगापहारक है वही रोगकारक भी हो सकती है। इतना ही नहीं वह औषधि प्राणघातक भी हो सकती है, वह औषधि संक्लेशोत्पादक भी हो सकती है, वह औषधि यदि विधि चूक गये तो न केवल स्वयं की मृत्यु का कारण है, हो सकता आप उस औषधि से ऐसे किसी रोग को अपने शरीर में जन्म दे दें जिस रोग से आस-पास के व्यक्ति भी रोगी हो जायें अर्थात् वह आपका रोग संक्रामक भी हो सकता है। इसीलिये बिना वैद्य के निर्देश के औषधि सेवन करना लाभदायक कम, हानिकारक ज्यादा हो सकता है।

मोक्षमार्ग में भी गुरु के वचनों की आवश्यकता है। गुरुवचन के बिना अकेली जिनमुद्रा कल्याण नहीं करती। गुरुवचनों के बिना केवल शास्त्रों का स्वाध्याय कल्याण नहीं करता, गुरु के उपदेश के बिना केवल तप करने से कर्म निर्जीण नहीं होते, जैसे लुहार बताता है बेटा चोट मार, बेटा कहता है दाऊ चोट कहाँ मारनी है? यहाँ मारनी है, कैसे मारनी है जोर से कि धीमे? जोर से मार दी तो टूट ही जाये इसीलिये धीमे से जैसे शिल्पकार मूर्ति पर धीमे-धीमे चोट मारता है, कहाँ धीमे मारनी है कहाँ तेज मारनी है। जैसे डॉक्टर ऑपरेशन करते समय सावधान होता है उसी प्रकार गुरु भी सावधान करते हैं। बेटा तू यहाँ चल रहा है यह रास्ता खतरनाक है, यहाँ मोह आ सकता है यहाँ अपनी गति धीमी कर ले, अब गति बढ़ाले, अब चढ़ाई आयेगी संभाल अपने आपको, इस प्रकार गुरुवचन उस मोक्षमार्गी को संभालने में निमित्त बनते हैं।

तीसरा उपकरण है दिगंबर मुद्रा को धारण करके, गुरु के वचनों को सुनकर के उस मोक्षमार्गी को अब विनम्र हो जाना चाहिये, क्योंकि ज्यों-ज्यों वृक्ष फलों से सहित होता जाता है त्यों-त्यों झुकता चला जाता है यदि वृक्ष झुक नहीं रहा है तो समझना चाहिये ऊँचा तो उठ रहा है पर उस पर फल नहीं आ रहे, फल आयेंगे तो झुकेगा ही। झुके वृक्ष से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इसमें कितने सारे फल लगे हैं, जितने फल डालियों पर लगे होंगे वे डालियाँ उतनी ही झुकती चली जायेंगी। विनयशील होना अच्छी बात है क्योंकि मोक्षमार्ग अकड़ का मार्ग नहीं है, मोक्षमार्ग पकड़ का मार्ग नहीं है उसमें किसी को पकड़कर भी नहीं चल सकते और अकड़ के भी नहीं चल सकते और किसी को हम अपना हाथ पकड़ा कर भी नहीं चल सकते। तो अकड़ का भी मार्ग नहीं है, पकड़ का भी मार्ग नहीं है फिर किसका मार्ग है? यह फक्कड़ का मार्ग है।

ये विनम्रता फक्कड़ बनने से आती है ये सोचो कुछ भी नहीं है जो बाह्य उपलब्धि है वह मेरी नहीं, जो मेरी आत्मोपलब्धि है उसे मैं किसी को दिखा नहीं सकता, और वह कोई व्यक्ति मुझसे छीन नहीं सकता उस उपलब्धि को प्राप्त करके सहजता में आ जाता है तो तीसरा उपकरण हुआ विनय।

चौथा उपकरण कह रहे हैं जब तुम्हारे पास तीन उपकरण हों तो चौथे उपकरण का उपयोग करना प्रारंभ कर देना, जैसे बड़ी टांकी से पत्थर को तराशा, फिर छोटी टांकी से पत्थर को तराशा फिर बट्टी से मूर्ति को घिसा अब उस पर कैमिकल डाल दो जिससे उस मूर्ति का रंग फीका न पड़े। वज्रलेप कर दो अर्थात् सूत्र अध्ययन वज्रलेप की तरह से है। सूत्र अध्ययन व्यक्ति पहले से क्या करे? मुनिराज बने नहीं शास्त्र पढ़ना प्रारंभ कर दिया हम मोक्षमार्गी बन जायेंगे, ऐसे कोई मोक्षमार्गी नहीं बनेंगे। जैसे पत्थर पर वज्रलेप करने से वह परमात्मा की मूर्ति नहीं हो जाती पहले पत्थर को काटो, छाँटो, तराशो फिर छोटी छैनी से घिसो, फिर बट्टी से घिसो तब वज्रलेप होता है इसी तरह पहले दिगम्बर मुनि बनो, गुरुओं के प्रत्येक वचन का, प्रत्येक संकेत का अंतरात्मा से पालन करो, उसके बाद जब रग-रग में विनम्रता समा जाये जैसे दूध के प्रत्येक कण में घी रहता है वैसे शिष्य के रग-रग में विनम्रता हो तब इसके उपरांत सूत्रों का अध्ययन करना है।

जिनमुद्रा को धारण करने का आशय दूध का होना, फिर गुरु वचन सुनने का आशय है दही जमना, विनय का आशय है नवनीत आ जाना और सूत्र अध्ययन करने का आशय है नवनीत को तपा करके शुद्ध घी बना लेना। ऐसे ही मोक्षमार्ग में जब ये चार उपकरण होते हैं तो वह भव्य जीव अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है। हम भी आपके प्रति ऐसी भावना भाते हैं कि आप भी अपने

पुण्य को इतना बढ़ायें, कि ये चार उपकरण आपको भी मिल जायें और चार उपकरणों को प्राप्त करके आप भी अपनी आत्मा का कल्याण करने में समर्थ हो सकें, ऐसी भावना आप सभी के प्रति भाते हैं, इन्हीं सद्भावनाओं के साथ....।।

"जैनं जयतु शासनं"

अपवित्र कौन?

महानुभाव! संसार में जितने भी जीव हैं वे दो प्रकार के हैं, या तो वे पवित्र हैं या अपवित्र हैं। यूँ तो गंदगी किसी को पसंद नहीं है किन्तु कहाँ? किसी को हाथों में गंदगी पसंद नहीं है, तो किसी को बातों में गंदगी पसंद नहीं है। किसी को गंदगी घर में पसंद नहीं है तो किसी को अपवित्रता वर में पसंद नहीं है, किसी को धन में पसंद नहीं है तो किसी को मन में पसंद नहीं है। किसी को वचन में पसंद नहीं है तो किसी को चेतन में पसंद नहीं है। हमारी माता बहिनें प्रात:काल से स्वयं स्नानादि करके, बच्चों को स्नानादि कराती हैं फिर अपने गृह की सफाई करती हैं यदि सफाई न करें तो उन्हें लगता है हमारा घर गंदा-गंदा सा, बासा-बासा सा है मन नहीं लगता। क्योंकि प्रभु आराधना, गुरुओं के लिये आहारादि बनाना, स्वाध्याय करना, जाप आदि लगाना तो इस अशुद्ध धर्म गृह में उचित नहीं है। मंदिर में जाकर भी सबसे पहले मंदिर की सफाई करते हैं उसके बाद अभिषेक आदि करते हैं।

अपवित्रता-अपवित्रता की जननी है, पवित्रता-पवित्रता की जननी है। जैसे-आप जानते हैं गंदगी से गंदगी आती है, बदबू से बदबू बढ़ती चली जाती है और खुशबू से खुशबू बढ़ती चली जाती है। यदि किसी गृह में विष्टा पड़ी हो तो बदबू से पूरा घर भर जाता है उस विष्टा आदि मल पर जो अन्य धूल आदि जमती चली जायेगी वह भी बदबू युक्त होती चली जायेगी और यदि किसी गृह में पुष्प रखे हैं तो पुष्प रखने से पूरा गृह खुशबू से भर जाता है। बाहर की अपवित्रता तुम्हें पसंद नहीं है इसीलिये गंदे कपड़े तुम कभी पहनना नहीं चाहते, जो वस्त्र स्वच्छ हैं उन्हें ही पहनना पसंद करोगे और तो और तुम्हारे पास दो नोट हैं दो-दो हजार के, एक नोट तो किसी तेली ने हाथ से चिकना कर दिया गंदा कर दिया और दूसरा नोट बिल्कुल करारा है

अब आपको किसी को अपना नोट (2000 रु.) देना है तो पहले कौन सा नोट दोगे? जो गंदा है वही दोगे ना! साफ सा रखा है उसे नहीं दोगे, क्यों नहीं दोगे? दोनों नोटों की कीमत बराबर है ये बताओ जो नोट गंदा सा कर दिया, क्या वह नोट 1999 रु. में चलेगा? नहीं, वह 2000 में ही चलेगा और जो दो हजार का करकरा नोट है वह क्या 2001 रु. में चलेगा? नहीं चलेगा। दोनों नोटों की वेल्यू बराबर होने के बावजूद भी आप उस गंदे नोट को पहले निकाल रहे हैं, मूल्य में अंतर नहीं है फिर भी गंदे वाले को पहले अलग करना चाहते हैं सही वाले को अपने पास रखना चाहते हैं, इससे सिद्ध होता है कि आपको गंदगी पसंद नहीं है।

गंदे कपड़े पसंद नहीं है, गंदा मकान पसंद नहीं है, भोजन में गंदगी पसंद नहीं है, गंदी बातें पसंद नहीं हैं तो फिर ये बताओ अपने चित्त में गदंगी भरके क्यों रखते हो, अपने मन को मैला क्यों करते हो। टंकी में चूहा गिर जाये, पूरा पानी अलग करते हो उसे पीना नहीं चाहते हो, उस पानी से अस्वस्थ हो जाते हैं। उस टंकी में एक चूहा गिर गया तो आपने पानी नहीं पिया और आपकी मन की टंकी में कषायों के कितने चूहे सड़ रहे हैं, हिंसादि पापों के कितने जीव उसमें बिलबिला रहे हैं।

महानुभाव! अपवित्रता को तो दूर करना ही चाहिये। हम ये समझें कि चित्त में अपवित्रता आती कैसे है? अपवित्र कौन है? क्या जो तीन दिन से नहीं नहाया उसे आप गंदा कहते हैं या उसे जिसके शरीर से पसीना बह रहा है या उसे जो गंदे वस्त्र पहने है। गंदा वह नहीं है जो शरीर से गंदा है, गंदा तो वह है जिसका मन गंदा है। मन गंदा नहीं होना चाहिये, मन से गंदा व्यक्ति ही वास्तव में अपवित्र है। आचार्य महोदय लिखते हैं-

अशुचिः करुणाहीनः, अशुचिर्नित्य मैथुनः।
अशुचिः परवादी च, अशुचिः परनिन्दकः॥

गंदा व्यक्ति वह है जिसके मन में करुणा दया नहीं है, अहिंसा की भावना नहीं है। जो निर्दयी है, क्रूर है, हत्यारा है, कषायी है वह अपवित्र है। चाहे भले ही उसकी चमड़ी गौर वर्ण की क्यों न हो, चाहे वह अच्छे वस्त्र पहने है, आभूषणों से लदा हुआ है, किन्तु मन में क्रूरता है किसी व्यक्ति के प्राणों को लेने में सैकिण्ड भी नहीं लगाता, निर्दोष की हत्या करने में भी माहिर है ऐसे व्यक्ति को पवित्र कहेंगे क्या? जिसके चित्त में करुणा-दया नहीं, अहिंसा नहीं वह अपवित्र है। तो ऐसे व्यक्ति से दूर रहो क्योंकि क्रूर परिणामी व्यक्ति सबसे पहले अपनी आत्मा की हिंसा कर रहा है क्रूर परिणामों से, और जो अपनी आत्मा पर दया नहीं कर सकता वह दूसरों पर क्या दया करेगा। इसीलिये कभी उसकी संगति मत करो जो क्रूर परिणामी है निर्दयी है, उसकी संगति भले ही कर लो जिसके शरीर में से बदबू आ रही है, शरीर में खाज-खुजली हो रही है उसके पास बैठ जाना किन्तु जो किसी की हत्या करके आया हो उसके पास नहीं बैठना।

शरीर से बदबू आ रही है हो सकता है वह किसी की सेवा करके आया हो, किसी रोगी का उपचार करके आया हो, हो सकता है अपने वृद्ध माता-पिता की सेवा करके आया हो, किन्तु वह गंदा व्यक्ति नहीं है वह तो रहम दिल है। गंदा तो करुणा से हीन होता है। जो दया से रिक्त है उसके पास किंचित् भी धर्म नहीं है। धर्म वह होता है जो दया से शुद्ध हो। **"धम्मोदया विसुद्धो।"** जिसको दया के छन्ने में छाना नहीं है वह धर्म हो ही नहीं सकता। दया से स्नापित धर्म ही वास्तव में धर्म संज्ञा को प्राप्त करता है।

द्वितीय बात कह रहे हैं कि और कौन व्यक्ति अपवित्र होता है, "अशुचिर्नित्यमैथुनः" जो नित्य मैथुन में रत रहता है वह भी अपवित्र

है। हिंसा में रत समझ में आता है, लोग कहते हैं महाराज! हम कषायी की संगति नहीं करते, यहाँ तक कि महाराज हम उस व्यक्ति से सामान भी नहीं खरीदते, उससे कोई सम्पर्क भी नहीं रखते क्योंकि हम समझते हैं उससे संपर्क रखने से हममें भी वैसे ही संस्कार आयेंगे और हमें भी पाप लगेगा, हमें उसकी वर्गणायें प्रभावित करेंगी। हम ईमानदार, सत्यवादी, धर्मात्मा के पास से ही वस्तु खरीदते हैं, देते हैं व्यवहार करते हैं, व्यवसाय करते हैं कषायी के साथ नहीं। किंतु वह व्यक्ति भी अपवित्र है जो अवैद्य रूप से मैथुन में रत रहता है। मैथुन सेवन करके आये व्यक्ति के विचार पवित्र नहीं हैं।

मैथुनरत आसक्त व्यक्ति कोई भी पाप कर सकता। आपको ज्ञात है सीता में आसक्त होकर रावण ने उसका अपहरण किया। चारुदत्त बसंतसेना में आसक्त हुआ और बारह वर्ष तक वेश्या के घर में रहा इसी प्रकार और भी कई उदाहरण हैं जिन्होंने वेश्या में रत होकर के अपने कुल में दाग लगाया, अपनी मर्यादा को भंग किया, अपने व्रत-नियम-संयम को तोड़ा। तो वह व्यक्ति भी अपवित्र है। लौकान्तिक देवों को सदा पवित्र कहा जाता है। **'ब्रह्मचारी सदाशुचि'** ब्रह्मचारी सदा पवित्र होता है और **'अब्रह्मसेवका सदा अपवित्रा'** अब्रह्म सदा अपवित्र होता है।

तृतीय बात कही **'अशुचिः परवादी च'** जो दूसरों का अपमान-तिरस्कार करता है, विसंवाद करता है, वाद-विवाद करता है, कलह करता है वह भी पवित्र नहीं है। जिसका उद्देश्य बुरा है वह व्यक्ति भी अपवित्र है। कोई व्यक्ति धर्म सभा में, शास्त्र सभा में अपनी विद्वत्ता दिखाने के लिये, किसी को नीचा दिखाने के लिये यदि सत्य बात का भी संभाषण करता है तब भी वह पवित्र नहीं कहा जाता, उसका उद्देश्य अच्छा होना चाहिये। यदि नीयत खराब है तो सूरत-सीरत कुछ नहीं करती। इसीलिये कहा है-बुरा वह नहीं

जिसकी सूरत खराब है, बुरा वह नहीं जिसकी सीरत खराब है बुरा तो बस वही है जिसकी नीयत खराब है। दूसरों से विवाद करने वाला, जो न स्वयं शांति से बैठता है न किसी को शांति से बैठने देता है वह भी निःसंदेह अपवित्र है, उसकी अपवित्रता उसे चैन से बैठने नहीं देती, उसकी अपवित्रता बार-बार उसे पाप के लिये प्रेरित करती है। इसीलिये वह व्यक्ति भी अपवित्र है।

अगली बात कही-'अशुचिः परनिन्दकः' जो दूसरों की निंदा करने वाला है वह भी अपवित्र है। विद्वान् कहते हैं-

न भाराः पर्वताः भाराः, न भाराः सप्तसागराः।
निन्दकाः हि महाभाराः, तथा विश्वासघातकाः॥

पृथ्वी कहती है मुझे इतने पर्वतों का भार, भार नहीं लगता और पृथ्वी पर इतने सागर हैं इनका भार-भार नहीं लगता, मेरे ऊपर यदि भार है तो मैं निंदा करने वाले व्यक्ति के भार से दबी जा रही हूँ और दूसरा भार लगता है मुझे विश्वासघाती का। ये मेरे ऊपर बहुत बड़े बोझ हैं। संसार के सभी प्राणियों का बोझ तो मुझे कणभर के जैसे लगता है किन्तु निन्दक और विश्वासघाती का बोझ मुझे ऐसे लगता है जैसे मेरे ऊपर बहुत सारा भार रख दिया हो जिसकी असहनीय पीड़ा से मैं तिलमिला उठी हूँ। तो निंदक ही महापापी है, वह अशुचि है।

निन्दक न तो अपना कल्याण करने में समर्थ होता है और निंदा से दूसरों के अकल्याण में निमित्त बनता है। हाँ महापुरुष उस निंदक के माध्यम से भी अपना कल्याण कर लेते हैं, वह उसमें समता भाव रखते हैं। जीवन में कोई पुण्य का कार्य करो या मत करो किन्तु एक नियम तो लिया जा सकता है हम जीवन में किसी की निंदा नहीं करेंगे, और जीवन में किसी के साथ विश्वासघात नहीं करेंगे संभव हो तो यह नियम भी लें कि हम निर्दयी नहीं बनेंगे, हम अब्रह्म का अवैद्य रूप से सेवन नहीं करेंगे और हम कभी किसी के लिये कलह

का, विवाद का कारण नहीं बनेंगे।

किसी नगर में एक राजा ने द्विजों का निमंत्रण किया। राजा ने अनेकों ब्राह्मणों का बड़ा आदर-सत्कार किया और उनका आतिथ्य करने को स्वयं उपस्थित हुआ। राजमहल के निकट के प्रांगण में रसोई बनाई गयी, कुशल पाक-शास्त्रियों ने रसोई बनाकर तैयार की। भोजन का समय होने वाला था, उसी समय एक चील उधर से उड़कर जा रही थी उसके मुख में सर्प था, उस सर्प के मुख में से जहर गिरा और नीचे पाकशाला में जो भोजन सामग्री थी, उस तरल पदार्थ में वह जहर जाकर गिरा। थोड़ा जहर जाने से भी पूरा भोजन विषाक्त हो गया किन्तु शीघ्रता में पदार्थ का रंग व गंध नहीं बदला जितने भी द्विज भोजन करने के लिये आये सबने राजा का आतिथ्य स्वीकार किया किन्तु कुछ देर बाद देखा जितने भी द्विजों ने भोजन किया था वे सब मृत्यु को प्राप्त हो गये।

राजा ने सभी से पूछा-आखिर क्या हुआ, किन्तु कहीं कोई कारण समझ में नहीं आया। राजा ने कहा संभव है ये सभी भोजन करने से मृत्यु को प्राप्त हुये हैं मैं देखता हूँ भोजन में क्या है। राजा ने भी वह भोजन किया और राजा भी मृत्यु को प्राप्त हो गया। नगर में चर्चा होने लगी कि अनर्थ हो गया।

राजपुत्र ने राजगद्दी संभाली, और राजगद्दी संभालते ही सबसे पहले उसने भी द्विजनिमंत्रण किया, यज्ञ किया, महार्चना की, लोकमंगल किये। उधर विज्ञ व्यक्ति चिंतातुर थे कि इसका दोष किसे दिया जाये। द्विज घात बहुत बड़ा पाप है। जीव घात ही बहुत बड़ा पाप है फिर ये तो ब्रह्मज्ञानी द्विज मृत्यु को प्राप्त हुये हैं नि:संदेह महापाप का कारण बना। दोष चील को दें? नहीं। उसने ऐसा बुद्धिपूर्वक नहीं किया वह तो उड़कर जा रही थी, सर्प को दें? नहीं वह भी दोषी नहीं, राजा को दोष दें? तो उसे भी कुछ ज्ञात नहीं है, पाक शास्त्री

को दें? तो उन्हें भी नहीं वे भी इससे अनभिज्ञ थे। अचानक नारद जी वहाँ से निकले वे सोच रहे थे कि दोष किसे दिया जाये सभी चिंतित थे, तभी जब राजकुमार ने ब्राह्मणों को आतिथ्य के लिये बुलाया उस समय एक व्यक्ति नगर के बीच में खड़े होकर के कह रहा था, कोई भी राजकुमार के यहाँ भोजन करने मत जाओ, उस राजा ने पहले अनेक ब्राह्मणों को मार दिया, अब उसका पुत्र निमंत्रण दे रहा है, वह भी मार देगा।

नारद जी कहने लगे-इन सारे ब्राह्मणों की हत्या का पाप इस निंदक के माथे मड़ो। ये निंदा करने वाला महापापी है। ऐसे ही कई बार किसी व्यक्ति से कोई अपराध हो जाये, दोष हो जाये, पाप हो जाये तो हो सकता है वह तो पाप से मुक्त हो जायेगा किन्तु निंदा करने वाला पाप से मुक्त नही होगा।

महानुभाव! हम इसीलिये आप भोले भाले जीवों को समझाना चाहते हैं आप जीवन में कभी इतने बड़े विद्वान् मत बन जाना कि अपने मुख से अपने धर्म की निंदा करने लग जाओ, इतने शास्त्रों को मत पढ़ लेना कि वीतरागी शास्त्रों की निंदा करने लग जाओ, गुरुओं की निंदा करने लग जाओ। यह महापाप का कारण है। विद्वान् वही है जो कभी किसी की निंदा नहीं करता, जो निंदा करता है वह अधम से भी अधम माना जाता है। इसीलिये आप सभी इन चार बातों का ध्यान रखें। हृदय में दया होना चाहिये, शारीरिक क्रियाओं में अब्रह्म नहीं होना चाहिये और वचनों में कलह कारक शब्द नहीं होने चाहिये तथा परनिंदा का भाव कभी मन में नहीं आना चाहिये। ये चारों ही आत्म कल्याण में सम्यक् उपकरण हैं, निमित्त हैं, कारण हैं। ये सब आपके जीवन में अवतरित हों, ऐसी सद्भावना हम आपके प्रति भाते हैं। इन्हीं सद्भावनाओं के साथ....।।

"जैनं जयतु शासनं"

लघुता के कारण

महानुभाव! जिनशासन में संगति का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। एक सूक्ति आपने सुनी होगी-**'संसर्गजाः दोषाः गुणाः भवन्ति'** संसर्ग से दोष गुण रूप अवस्था को, गुण दोष रूप अवस्था को भी प्राप्त हो जाते हैं। जैसा सत्संग प्राप्त होता है उसकी प्रतिछाया निकटवर्ती वस्तु व व्यक्तियों पर दृष्टिगोचर होती है। सूर्य की किरण सामने यदि किसी लालवर्ण के पत्थर पर पड़ रही है तब नि:संदेह उसका रिफ्लेक्शन लाल रंग का ही आता है। हरी दीवार पर यदि किरण पड़ती है तो रिफ्लेक्शन हरा पड़ता है, दीवार नीली है, पीली है जैसी है रिफ्लेक्शन वैसा आता है।

जिसके पास बैठते हैं उसके गुण और दोष समीपस्थ में आना स्वभाविक हैं, यदि कोई व्यक्ति पुष्पवाटिका के मध्य से निकल जाये तो उसके वस्त्रों में से भी पुष्प की गंध आने लगती है। दूसरी ओर यदि कोई व्यक्ति श्मशान में चला जाये या दुर्गंधयुक्त पदार्थों के मध्य में विराजित हो तब नि:संदेह उसके वस्त्रों में से भी दुर्गंध आने लगती है। ये तो आप जानते ही हैं बर्फ के समीप बैठोगे तो उससे स्पर्शित हवा भी शीतल लगेगी और अग्नि कुण्ड के पास बैठोगे तो उससे स्पर्शित हवा भी ऊष्ण हो जायेगी। व्यक्ति के जीवन में गुरुता और लघुता कैसे प्रवेश करती है? आप और हम सभी जानते हैं गुरु के निमित्त से जीवन में गुरुता आती है और लघु के निमित्त से जीवन में लघुता आती है।

रत्न की शोभा सोने के साथ है, लोहे के किसी भी आभूषण में रत्न लगा दिये जायें तो लोग उस रत्न की असलियत पर भी शंका करेंगे। लोहे में असली रत्नों को नहीं जड़ा जाता उसमें तो काँच को ही जड़ा जाता है, लोहे की संगति से असली रत्न भी काँच माना

जाता है और सोने की संगति में काँच भी आ जाये तो काँच में भी लोगों को असली रत्न का भ्रम होता है। अच्छे व्यक्तियों के साथ में रहने वाले व्यक्तियों को अच्छा माना जाता है और खराब व्यक्तियों के साथ रहने वाले व्यक्तियों को भी खराब माना जाता है। यदि किसी के व्यक्तित्व की पहचान करना है तो बस इतना जान लो कि वह किन्हें अपना मित्र बनाना चाहता है और कौन-कौन उसके पक्के और अच्छे मित्र हैं, जैसे मित्र वह चाहता है, जैसे मित्र उसके हैं वह भी उसी में से है, उससे पृथक नहीं हो सकता।

राजा की संगति में बैठकर सामान्य व्यक्ति भी राजा के सम्मान को प्राप्त होता है, चोर की संगति में आया पुरुष भी तिरस्कार को प्राप्त होता है। संगति का प्रभाव ऐसे पड़ता है-

जुआरी से तुम रखोगे यदि दोस्ताना।
तो जुआरी समझेगा तुमको जमाना।।
बैठोगे रोज-रोज अग्नि जलाकर।
उठोगे एक रोज कपड़ों को जलाकर।।

महानुभाव! जल की बूँद प्रभु जी के संसर्ग से पवित्र गंधोदक बन जाती है, वही जल की बूँद मिट्टी में पड़े तो कीचड़ बन जाती है, वही बूँद नाना प्रकार के फल में जाती है, वृक्षों में जाती है उस-उस प्रकार के स्वाद को ग्रहण कर लेती है। यथा नींबू में खट्टी, आँवले में कसायली, अंगूर व ईख में मीठी, मिर्ची में चरपरी, नीम में कड़वी और नमक में खारी। जैसा जिसका स्वभाव है वह बूँद भी उसी स्वभाव को ग्रहण करती है। चोरों की टोली में यदि सज्जन व्यक्ति फँस जाये तो उसे माफ नहीं किया जाता उसे भी गिरफ्तार किया जाता है, जाँच पड़ताल करने पर जब वह निर्दोष सिद्ध हो जायेगा तब ही छोड़ा जायेगा तब तक तो कष्ट सहन करना ही पड़ेगा, ऐसे ही सज्जनों के साथ कोई दुर्जन आ जाये, जब तक दुर्जन की दुर्जनता

का कोई प्रमाण नहीं मिलता है तब तक वह सज्जनों के मध्य पूज्यता को प्राप्त हो जाता है।

नीतिकार कहते हैं छः कारण ऐसे हैं जिनसे व्यक्ति तुच्छता को प्राप्त होता है, लघुता को प्राप्त होता है, हीनता को प्राप्त होता है, व्यक्ति की ख्याति-प्रतिष्ठा, यश-कीर्ति मलिन और कलंकित हो सकती है इसीलिये तुच्छ व्यक्तित्व वाले व्यक्तियों के साथ इस प्रकार की प्रवृत्ति नहीं करना चाहिये। किसके साथ कौन सी प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिये तो बताया-

बालसखित्व-मकारण हास्यं, स्त्रीषु विवादमसज्जनसेवा।
गर्दभयानमसंस्कृत वाणी, षट्सु नरो लघुता-मुपयाति॥

इन छः कारणों से व्यक्ति लघुता को प्राप्त करता है। पहला कारण दिया 'बालकों से दोस्ती करना' **'बच्चों की दोस्ती जी का जंजाल, भाग गये बच्चे तो हो गये कंगाल।'** जब तक बच्चे साथ में हैं तब तक आनंद ही आनंद है बच्चे कब रूठ गये, कब भाग गये, कब जिद करने बैठ गये कह नहीं सकते। तो बच्चों की दोस्ती के साथ तुम निश्चिंत और निर्विवाद, विश्वस्त, प्रमाणिक नहीं बन सकते। लोग तुम्हें भी बच्चे जैसे, बालबुद्धि मानेंगे। इसीलिये दोस्ती करना है तो समझदार के साथ करना, दोस्त बनाओ जिसके बाल अनुभव की धूप में पके हों, वह तुम्हें प्रत्येक मुसीबत से बचा सकता है। जो आयु से बाल है, ज्ञान में बाल है, अनुभव में बाल है एवं संयम में बाल है ऐसे व्यक्ति की दोस्ती करना तुम्हारे व्यक्तित्व को बोना बनाने के लिये है। इसीलिये सज्जन व्यक्ति बालकों से दोस्ती नहीं करता। वह सोचता है बालक तो करुणा-दया-क्षमा का पात्र है वह करुणा-दया-क्षमा का पात्र होने के कारण अच्छी सलाह नहीं दे सकता, गलत सलाह देने पर उसे दण्डित भी नहीं किया जा सकता, गलत कार्य करने पर भी उसे कुछ नहीं कहा जा सकता,

उसकी सलाह मानी भी नहीं जा सकती। न मानें तो बालक क्लेश का कारण बनेगा इसीलिये जो प्रज्ञ पुरुष हैं उन्हें चाहिये कि वे बच्चों के साथ दोस्ती न करें।

बच्चों के साथ स्वयं को बच्चा न बना लें, बच्चों के साथ दोस्ती करने का आशय है स्वयं बच्चा बन जाना और बाल बुद्धि से सम्यक् निर्णय नहीं लिये जा सकते, इसीलिये मजिस्ट्रेट हर कोई नहीं बन सकता। भारतीय संविधान में अंकित है 35 वर्ष से छोटे को मजिस्ट्रेट नहीं बनाया जा सकता है। पहले वह वकील बना हो या कम से कम दस वर्ष की प्रैक्टिस की हो, क्योंकि निर्णय देने का अधिकार बालकों को नहीं दिया जा सकता। जिसने अपने अनुभव से स्वयं के ज्ञान को शुद्ध कर लिया है ऐसा व्यक्ति ही निर्णय व सलाह देने में सक्षम हो सकता है। इसीलिये प्रथम बात कही 'बाल सखित्वं' बालकों से दोस्ती रखना उचित नहीं है।

दूसरा कारण कहते हैं "अकारणहास्यं" हँसना स्वास्थ्य के लिये अच्छा हो सकता है, अच्छा होता भी है किन्तु किसी कारण से कार्य का होना तो उचित मालूम होता है बिना कारण से किसी कार्य का होना सज्जनों के लिये हास्य का कारण बन जाता है, तिरस्कार निंदा और अपमान का कारण हो सकता है। इसीलिये कहा बिना कारण मत हँसो, कोई गंभीरता की बात कही जा रही है, तुमने ठहाका मारकर हँसना प्रारंभ कर दिया तो इसे व्यक्ति अपना अपमान समझेगा या आपको मूर्ख। इसीलिये अकारण हास्य उचित नहीं। कई बार व्यक्ति उस समय हँस जाता है जब कोई व्यक्ति शोकाकुल हो, गहन विपत्ति में पड़ा हो, तुमसे सहयोग की अपेक्षा रखता हो और तुमने उसकी बात को हास्य में टाल दिया तो वह सोचेगा कि निःसंदेह यह व्यक्ति गंभीर नहीं है, महान्पुरुष नहीं है, आदर्श पुरुष नहीं है तुच्छ है, मुझसे भूल हुयी जो मैं तुच्छ व्यक्ति के पास आया।

महापुरुष अकारण कोई कार्य नहीं करते, फिर अकारण हँसना तो कभी होता ही नहीं। महापुरुषों का स्मित हास्य होता है, वे मंद-मंद मुस्कुराते हैं, ठहाका मारकर हँसी नहीं करते।

तृतीय बात कहते हैं 'स्त्रीषु विवादं' जो व्यक्ति स्त्री के साथ विवाद करता है वह भी लघु पुरुष है। वह कभी अपनी प्रतिष्ठा नहीं बना सकता। स्त्री के सामने जितना कम बोले, प्रमाणिक बोले, उचित बोले तो ठीक है। स्त्री किसी बात की जिद कर जाये तो तर्क वितर्क करके स्त्री को हराने की चेष्टा न करे और उसे जिताने की चेष्टा भी न करे। स्त्री से हारना भी अच्छा नहीं है स्त्री से जीतना भी अच्छा नहीं है। पुरुष पुरु कहलाता है, गंभीर, श्रेष्ठ व उत्तम कहलाता है, लघुता के साथ विवाद करने से विजय भी हो गयी तब भी उचित नहीं। जैसे कोई शेर चूहे से जीत जाये तब भी हास्य का पात्र, हार जाये तब भी हास्य का पात्र।

अग्नि का यदि आप तिरस्कार करते हैं तब भी कष्ट और यदि उसको चूमते हैं तब भी कष्ट। कोयले का तिरस्कार करो तब भी कालिमा आपके अंग पर लगेगी और चूमोगे तब भी आपके ओष्ठ काले होंगे इसीलिये स्त्री को आदर्श नहीं माना जा सकता पुरुष के लिये। गुण ग्रहण तो किये जा सकते हैं, उन्हें प्रेरक निमित्त तो बनाया जा सकता है किन्तु उसके साथ विवाद नहीं करना चाहिये। स्त्रियों से विवाद व बहस करने वाला व्यक्ति तुच्छ कहलाता है, वह व्यक्ति प्रमाणिक व आदर्श नहीं माना जा सकता।

चतुर्थ बात कही-'असज्जन सेवा' जो सज्जन पुरुष नहीं हैं, दुष्ट पुरुष हैं, निम्न कोटि के हैं, स्तर और कोटि से आशय उनके रहन-सहन से नहीं वरन् उनकी सोच से है। घटिया किस्म की सोच है, निम्न स्तर के विचार हैं, जो पर अहित निरंतर सोचते हैं। असज्जन

व दुर्जन वे हैं जिनके रग-रग में दुष्टता भरी है। असज्जन वे हैं जो समीचीनपने से कोसों दूर हैं जिनके चित्त में अज्ञान का अंधकार भरा हुआ है, मिथ्यात्व का जहर भरा हुआ है, दुष्टता-क्लेश व पाप की कीचड़ भरी हुयी है वह असज्जन है, दुर्जन है। ऐसे व्यक्ति की सेवा करने से तुम्हें प्रतिष्ठा न मिलेगी, सुख-शांति भी न मिलेगी गर मिलेगा तो पश्चाताप मिलेगा, विषाद, कलह, तिरस्कार व अपमान यही आपको प्राप्त होंगे? क्योंकि वह आपको कुछ और अच्छा दे नहीं सकता। वह तुच्छ व्यक्तित्व का धनी है, उसके पास बैठने से तुम्हारा व्यक्तित्व भी तुच्छ ही हो जायेगा।

आगे पाँचवाँ कारण कहते हैं 'गर्दभयान' जो गधे पर सवारी करे। चाहे वह राजा ही क्यों न हो और सिर पर मुकुट बाँध करके, अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित होकर के चाहे किसी कन्या के साथ पाणिग्रहण करने ही क्यों न जा रहा हो वह बड़ा पुरुष भी उस गधे की सवारी करता है तो लघुता को प्राप्त होता है। गधे की सवारी इस बात का प्रतीक है या तो अपराधी है या मूर्ख या इसकी सामर्थ्य और विवेक इसके पास से कूच कर गये हैं इसीलिये गधे का आश्रय लिया है। संभव है इसकी धारणायें भी गलत हों और गलत धारणा न होती तो गधे का सहारा क्यों लेता गधे को अपना आश्रय क्यों बनाता। इसीलिये ये बात भी निश्चित है कि व्यक्ति सवारी भी करे तो अच्छे वाहन पर करे निंद्य वाहन पर नहीं। यदि कहीं मल का ढेर लगा है आप उसे गंदा कहोगे, मक्खी वहीं आकर बैठेगी। तितली पुष्प पर बैठती है वह अच्छी है। ऐसे ही आप यदि किसी गंदे स्थान पर बैठ गये तो समझना चाहिये आप भी गंदे पुरुष हैं।

गंदगी गंदगी को पसंद करती है, स्वच्छता स्वच्छता को। बुराई-बुराई की जन्मदात्री होती है और भलाई भलाई की। इसीलिये कहा 'गर्दभयान' गधे की सवारी अर्थात् मूर्ख का आश्रय। दोनों अर्थ लगाने चाहिये। गधे

की सवारी भी उचित नहीं है और मूर्ख को अपना आधार बनाना, उसके आश्रित रहना भी आपकी तुच्छता का कारण है।

अंतिम बात है 'असंस्कृतवाणी' जिसकी वाणी असंस्कृत है सुसंस्कारी नहीं है, परिमार्जित नहीं है, जो इष्ट-मिष्ट-शिष्ट वचन नहीं बोल सकता, जो दूसरे के भ्रमरूपी रोग को दूर करने में असमर्थ है जो त्रासवचन, परशु व निंद्य वचन, असत्य व अप्रिय वचन बोलता है तो वह व्यक्ति भी अपने व्यक्तित्व को ऊँचा नहीं कर सकता। निम्न कोटि के वचनों का प्रयोग करने से व्यक्ति का व्यक्तित्व गिरता चला जाता है इसीलिये कहा-'वचने का दरिद्रता' वचनों में कभी दरिद्रता मत लाओ, अच्छे से अच्छे वचनों का प्रयोग करो। जैसे अपने अतिथि को अच्छे से अच्छा स्वादिष्ट भोजन कराते हो वैसे ही स्वयं भी अच्छे से अच्छे वचनों का प्रयोग करके अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करना चाहिये। निम्न कोटि के वचन आपके व्यक्तित्व को बोना करते हैं।

इन छः कारणों के कारण व्यक्ति का व्यक्तित्व लघु व तुच्छ हो जाता है इसीलिये विवेकी व सज्जन पुरुषों को इन छः कारणों से बचने का सम्यक् पुरुषार्थ करना चाहिये। आप अपने जीवन में अच्छे संस्कारों को ग्रहण करने का पुरुषार्थ करें, इन छः निमित्तों से बचने का पुरुषार्थ करें जो आपके व्यक्तित्व को खण्डित करने वाले हैं। आप सबका मंगल हो, शुभ हो, कल्याण हो ऐसी सद्भावनाओं के साथ....।।

"जैनं जयतु शासनं"

गृहस्थों के पाँच कर्त्तव्य

महानुभाव! कर्त्तव्यपालन करना संसार का सबसे बड़ा धर्म है। प्रत्येक व्यक्ति के कर्त्तव्य उसके पद, स्थान और समय के द्वारा निर्धारित किये जाते हैं। स्थान, समय और पद उन कर्त्तव्यों की प्रमुखता, प्रधानता और सार्थकता के लिये महत्त्वपूर्ण हैं। सामान्यतया शासक के कर्त्तव्य कुछ अलग हैं शासित के अलग, गुरु के अलग हैं शिष्य के अलग, श्रमण के अलग हैं श्रावक के अलग। यहाँ पर मुख्यतया गृहस्थ के कर्त्तव्यों की चर्चा है। गृहस्थ को किन कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिये? वे कौन से कार्य हैं जो एक सामान्य गृहस्थ को करना आवश्यक है? तिरुवल्लुवर स्वामी हुये जिन्होंने तिरुक्कुरल नामक ग्रंथ लिखा। तमिलनाडू में उन्होंने अपनी साधना के माध्यम से न केवल आत्मशांति को प्राप्त किया, मानवता के कल्याण में भी उनका जीवंत जीवन एवं उपदिष्ट साहित्य लोकोपकारी जगद्मंगलकारी एवं विश्वशांति का संप्रेरक रहा। उन्होंने गृहस्थों के कर्त्तव्य के संबंध में लिखा है-

गृहीणां पंचकर्माणि, स्वोन्नतिर्देवपूजनं।
बंधुसहाय्य मातिथ्यं, पूर्वेषां कीर्ति-रक्षणं।।

आचार्य महोदय कह रहे हैं गृहस्थ को इन पाँच कर्त्तव्यों का नित्य पालन करना चाहिये। जैसे मुनिराज अपनी क्रिया सम्पन्न करते समय, प्रवृत्ति करते समय पाँच समिति का पालन करते हैं, संसार के विच्छेद के लिये पाँच महाव्रत का पालन करते हैं, पाँच प्रकार के संसार का निर्मूलन करने के लिये पाँच प्रकार के पापों का सर्वथा त्याग करते हैं, पंच परमेष्ठी की स्तुति करते हैं उसी तरह गृहस्थ भी इन पाँच कर्त्तव्यों का पालन करते हुये परमगति को प्राप्त करने में समर्थ होता है। वह क्रमशः पाँच पापों से मुक्त होता हुआ पंच संसार के भी पार पहुँच जाता है। उन पाँच कार्यों में प्रथम है 'स्वोन्नति

र्देवपूजनं' गृहस्थ को आत्मोन्नति के कार्य में संलग्न रहना चाहिये। जो गृहस्थ स्वोन्नति नहीं करता तो वह भी कर्त्तव्यशून्य कहा जाता है। स्वोन्नति का आशय है अपनी शांति को वृद्धिंगत करे, अपनी सुखानुभूति को वृद्धिंगत करे। अपनी ज्ञान की पिपासा को शांत करे, देश की उन्नति करे, समाज की उन्नति करे, कुल की उन्नति करे, वंश की वृद्धि करे, धर्म उन्नति करे। ये उन्नति उसे उन्नतशील बनाने वाली है।

उन्नति जहाँ पर नहीं होती है वहाँ पर क्रमशः पतन प्रारंभ हो जाता है क्योंकि कोई भी वस्तु जब आकाश की ओर फेंकी जाती है तब ऊर्ध्वगति की ओर जाती है किंतु ऊर्ध्वगति की ओर जाना जैसे ही बंद होता है तो वह अधोगति की ओर जाना प्रारंभ कर देती है। ऐसे ही व्यक्ति जब तक स्व उन्नति नहीं करता है पर उन्नति का निमित्त नहीं बनता है तब संभव है उसका पतन प्रारंभ हो जाता है इसीलिये स्व उन्नति करना, अपने देश की उन्नति करना, परिवार की उन्नति करना, अपने सौहार्द आदि गुणों की उन्नति करना, सदाचार की उन्नति करना, दूसरों के लिये हितकारी निमित्त बनना।

इसके साथ-साथ उस गृहस्थ का दूसरा कर्त्तव्य है कि अपने इष्ट देव की पूजा करे अपने आराध्य की पूजा करे। जो देवपूजा से रहित होता है, इष्ट आराध्य के प्रति श्रद्धा से नहीं भरता, जिसके चित्त में भक्ति का भाव जाग्रत नहीं होता, उपासना आराधना नहीं करता वह गृहस्थ अपने कर्त्तव्य से च्युत माना जाता है।

कर्त्तव्यों का समीचीन पालन करने के लिये उसे शक्ति की आवश्यकता है। जैसे धन उसे आवश्यक होता है तो उसे शारीरिक बल भी चाहिये, उसे मनबल भी चाहिये, उसे वचनों का बल भी चाहिये इसके बिना उन्नति संभव नहीं है। उन्नति के लिये उसे आध्यात्मिक बल की भी आवश्यकता होती है। वह आध्यात्मिक बल

देवपूजन, गुरु उपासना आदि के माध्यम से मिलता है। धार्मिक क्रियाकलापों के माध्यम से मिलता है। जैसे-विद्युत उपकरण को निरंतर उपयोग करते ही रहें उसमें ऊर्जा का संचार न करें आपकी भाषा में मोबाइल आदि को चार्ज न करें तो वह काम करना बंद कर देता है। ऐसे ही यदि गृहस्थ देवपूजन आदि सुकृत नहीं करता है तब वह गृहस्थ अपना जीवन सुखद नहीं बना सकता, वह दूसरों के सुख का निमित्त नहीं बन सकता, जिस गृहस्थ के जीवन में देवपूजन एक अनिवार्य अंग बन गया है ऐसे गृहस्थ की आध्यात्मिक शक्ति को कोई क्षीण नहीं कर सकता।

यह संसार परिवर्तनशील है जो शक्ति आज है वह कल रहे न रहे किन्तु शक्ति को घटाया भी जा सकता है और बढ़ाया भी जा सकता है। जैसे किसी वृक्ष में जल सिंचन न हो तो सूख जाता है, सूर्य किरण एवं वायु उसकी वृद्धि का कारण है इसी तरह उस गृहस्थ के लिये आध्यात्मिक वृद्धि के लिये, कर्त्तव्य के पालन की शक्ति के लिये आवश्यक है कि वह इष्ट देवता की उपासना करे। इष्ट सन्मार्गदर्शक की उपासना करे।

तृतीय कर्त्तव्य उसका है 'बंधुसहाय्य' गृहस्थ जीवन में रहकर के जो अपने बंधुओं की सहायता नहीं करता वह भी पदच्युत कहा जाता है। अच्युत पद वही प्राप्त करते हैं जो अपने कर्त्तव्य का निष्ठा से पालन करते हैं। अच्युत अवस्था उचित कार्यों के करने से होती है औचित्य का और अनौचित्य का जिसे ख्याल रहता है, औचित्य का कभी परित्याग नहीं करता, अनौचित्य को कभी स्वीकार नहीं करता वह व्यक्ति निःसंदेह समस्त साधन सामग्री का सद्उपयोग करता है और सदुपयोग करके उसके फल को प्राप्त करता है। लौकिक जगत में जो भी आपके साथ हैं चाहे आपके माता-पिता, चाहे आपके भाई-बंधु, चाहे आपके पुत्र-पुत्री गण, चाहे स्वजन और चाहे आपके

आश्रित जन, चाहे वे आश्रित मनुष्य हों या पशु-पक्षी हों, उन सबकी सहायता करना भी गृहस्थ का कर्त्तव्य है, उसे वह छोड़ नहीं सकता।

आज समाजों में दशा बदल व बिगड़ रही है सब एकाकी जीवन जीना चाहते हैं, मुझे किसी से लेना-देना नहीं मैं क्यों भाई की सहायता करूँ, मैं क्यों पड़ौसी की सहायता करूँ, पशु-पक्षियों की सहायता क्यों करूँ जिसने जैसा किया वह वैसा भोगे, मैं किसी का कुछ नहीं कर सकता, मैं किसी के साथ नहीं रह सकता, ये सब धारणायें, मान्यतायें व्यक्ति की बनती चली जा रही हैं। यह स्व और पर के लिये घातक है। बंधुओं की सहायता करना यह भी एक कर्त्तव्य है, इस कर्त्तव्य का त्याग करने वाला व्यक्ति कर्त्तव्यनिष्ठ, आदर्श धर्मात्मा व सुखी जीवन जीने वाला नहीं हो सकता। इसीलिये आचार्य महोदय ने कहा-'बंधुसहाय' बंधुओं की सहायता करो और उनसे सहायता प्राप्त करो। जिन्हें आवश्यकता है उन्हें सहायता प्रदान करो और तुम्हें आवश्यकता है तो तुम सहायता माँगो। सहायता न लेना भी उचित नहीं है और सहायता न देना भी उचित नहीं है, सहायता लेना भी चाहिये और सहायता करनी भी चाहिये। जैसे केवल प्राणवायु को ग्रहण करने-करने मात्र से कोई व्यक्ति जीवित नहीं रह सकता, केवल अपानवायु का त्याग करने से कोई व्यक्ति जीवित नहीं रह सकता 'आनापान' ऑक्सीजन लेना भी जरूरी है, कार्बनडाई ऑक्साइड छोड़ना भी जरूरी है। दोनों की अनिवार्यता है ऐसे ही बंधुओं के मध्य रहते हुये उनकी सहायता करना भी जरूरी है और उनसे सहायता लेना भी जरूरी है।

सहायता लेने से, सहायता देने से, व्यवहार बनाने से जीवन में मधुरता आती है, जीवन में शांति आती है, जीवन सुखद प्रतीत होता है, जीवन का सही मूल्यांकन किया जा सकता है, जीवन सार्थक लगता है, फिर वह जीवन सारभूत लगता है भारभूत नहीं लगता है

जो बंधुबांधवों की उपेक्षा करता है वह व्यक्ति अपने जीवन को अपने लिये तो अभिशाप बनाता ही है दूसरों के लिये भी अपने जीवन को अभिशाप बना देता है।

आगे कहा 'आतिथ्यं' गृहस्थ का कर्त्तव्य है अपने दर और द्वार पर पधारे हुये देवस्वरूप अतिथि की सदैव सेवा करना। चाहे क्रूर सर्प व शेर ही क्यों न हो यदि आपके दर पर आता है तो उसका आतिथ्य करना भी जरूरी है। चाहे प्रभु के समान कोई गुरु ही क्यों न हो उनका सम्मान भी जरूरी है, परिचित या अपरिचित जन हों उनका आदर करना जरूरी है। जिसके आने जाने की तिथि निश्चित नहीं, अचानक तुम्हारे द्वार तक पहुँचा है उसकी सेवा, उसके प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करो। तिरुवल्लुवर स्वामी जी ने कहा है जो व्यक्ति आये हुये अतिथि की सेवा कर चुका है, विराजित अतिथि की सेवा कर रहा है, आने वाले की इंतजारी कर रहा है ऐसे व्यक्ति को कृषि करने की आवश्यकता नहीं उसके भण्डार सदा भरे रहते हैं।

भारतीय संस्कृति में तो अतिथि को देव कहा जाता है **'अतिथि देवो भव'** और शायद परिचित व्यक्ति की सेवा करने से भोजन कराने से उतने पुण्य के फल की प्राप्ति हो या न हो किंतु अतिथि सेवा करने का फल नि:संदेह सामान्य व्यक्ति की सेवा से सहस्रगुना, लक्षगुना, कोटिगुना हो जाता है। इसीलिये अतिथि यदि तुम्हारे पुण्य से तुम्हारे द्वार तक आ गये, चाहे वे तीर्थंकर के रूप में उस जिनमुद्रा को धारण किये हुये मुनि हों और चाहे तुम्हारे द्वार पर कोई याचक ही क्यों न आ जाये तब भी करुणा बुद्धि से उसका भी आतिथ्य करो। चाहे तुम्हारा शत्रु ही क्यों न आ जाये।

भारतीय संस्कृति का प्रारंभ से ही सिद्धान्त रहा है कि अपने द्वार पर आये हुये शत्रु को भी उन्होंने शरण दी है। भरत चक्रवर्ती का शत्रु

वज्रबाहु जो बाहुबली के पास शरण प्राप्त करता है। अपने भाई का शत्रु जानकर भी उसने शरण दी। इतनी बात ही नहीं थी यहाँ तक कि उसे विश्वास दिलाने के लिये कि वह उसका मित्र है, कहा आप मेरे यहाँ अतिथि बनकर के आये हो, जब तक मैं हूँ तब तक तुम मेरे लिये सम्मानीय हो और ये मेरा राज्य भी ये समझें कि आपका ही राज्य है। आप निश्चिंत और निराकुल रह सकते हैं। यदि अतिथि बनकर के कोई देव कबूतर और बाज का रूप बनाकर भी आता है तब भी महाराज मेघरथ जैसे आदर्श नृपति अपने कर्त्तव्य का पालन करने में चूकते नहीं हैं। अतिथि बनकर के यदि राजा हरिश्चन्द्र के द्वार पर नारद पधारते हैं उनकी परीक्षा लेते हैं, उनके द्वारा सब कुछ दान करने के उपरांत भी वे अपने सत्य से मुकरते नहीं हैं वहाँ भी सेवा करते हैं। यदि महाराज पद्मरथ के राज्य में रहने वाले उस बलि के पास विष्णुकुमार अतिथि बनकर वामन रूप धरकर जाते हैं तब वह उनका आतिथ्य करने में चूकता नही है। चाहे श्री रामचन्द्र जी व सीता जी के पास दण्डक वन में अतिथि के रूप में गुप्ति-सुगुप्ति मुनिराज आते हैं वे उनका आतिथ्य जंगल में भी करते हैं।

यह बात निश्चित है आचार्य सोमदेव सूरि ने लिखा है कि तुम्हारे पास चाहे अमृत ही क्यों न हो, अतिथि को पिलाये बिना जो उस अमृत को पीता है तो वह जहर कहलाता है। अतिथि के लिये आपने तृण का दान देकर के भी, तुष या धान्य देकर के भी उसकी क्षुधा को शांत किया है, उसके प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन किया है तब ये समझना चाहिये कि वह छिलके का भोजन भी अमृतोपमा भोजन की तरह से स्वाद को देने वाला होता है। आपको ज्ञात होगा चंदन बाला के पात्र में रखा हुआ वह कोंदों या उड़द के छिलके, तीर्थंकर महावीरस्वामी को दान देकर ही उस बाला ने भोजन ग्रहण किया था।

महानुभाव! यह भारतीय संस्कृति का एक मूल सिद्धान्त है अतिथि सेवा। पंचम व अंतिम कर्त्तव्य है उस गृहस्थ का 'पूर्वेषां कीर्ति रक्षणम्' अपने पूर्वजों की कीर्ति की रक्षा करना। जिस कुल में जन्म लिया है, जिस वंश में जन्म लिया है आपके पूर्वज पिता, पितामह, प्रपितामह और उनके भी पिता आदि उन्होंने जो कीर्ति उपलब्ध की है, उन्होंने जो आदर्श स्थापित किये हैं उन आदर्शों की रक्षा करना है, उनका संरक्षण व संवर्धन करना है यह सद्गृहस्थ का एक आवश्यक कर्त्तव्य होता है। जो अपने कर्त्तव्यों का निष्ठा के साथ पालन करते हैं ऐसे गृहस्थ जीवंत रहते हुये भी सम्मानीय प्रशंसनीय व पूज्यनीय होते हैं और मृत्यु के उपरांत भी उनका यश उनकी प्रशंसा, ख्याति नष्ट नहीं होती। वे मृत्यु को प्राप्त करके भी अमर हो जाते हैं।

आप सभी गृहस्थ हैं, आप भी अपने कर्त्तव्यों का निष्ठा के साथ पालन करो और जीवन में समस्त प्रकार के सुखों को प्राप्त करो। स्वोन्नति, देवपूजन, बंधुवर्ग की सहायता, अतिथि सेवा एवं पूर्वजों की कीर्ति की रक्षा ये पाँच कर्त्तव्य पुनः पुनः स्मरणीय हैं और आचरणीय हैं। आप सब इनका पालन करके उत्तम सुख को, शांति को प्राप्त कर सकें ऐसी मंगलभावना आप सभी के प्रति भाते हैं। इन्हीं सद्भावनाओं के साथ....।।

"जैनं जयतु शासनं"

महाजनो येन गतः स पंथः

महानुभाव! यह बुराईयों के प्रति उन्नतशील काल है, देह की शक्ति अवगाहना का यदि ह्रास हो रहा है तो विकार और पाप का संवर्धन भी हो रहा है ऐसे काल में कोई भी आत्म हितेच्छुक व्यक्ति किस प्रकार अपनी आत्मा का हित करे, किस प्रकार संसार के संवर्धक कार्यों से बचे, किस प्रकार वह अपने जीवन को सुखी बना सके, किस प्रकार मर्यादा का रक्षण कर सके। मानो आज केवलज्ञानरूपी सूर्य का तो अभाव हो गया है, तिमरासन्न जगत् में विषय कषायों के झाड़ झंकड़ आवश्यकता से ज्यादा हैं, मार्ग अवरुद्ध है, पग कमजोर है सहायक दिखाई नहीं देते, ऐसे में गति कर पाना और-और-और अधिक कठिन होता चला जा रहा है। लिखा है मनीषी विद्वानों ने कि वर्तमान काल में यदि कोई सम्यक् मार्ग हो सकता है, लक्ष्य तक पहुँचाने में कोई समर्थ हो सकता है तो वह है महापुरुषों का अनुकरण।

महापुरुषों ने जिस रास्ते को स्वीकार किया उस मार्ग की स्वीकारता ही कल्याण की नियामक हेतु है। अन्यथा आज हमारे पास वह सामर्थ्य नहीं कि सम्यक् मार्ग की खोज की जा सके और उसमें गति की जा सके। अति सघन अंधकार में जहाँ पर व्यक्ति को अपने अस्तित्व का बोध भी अच्छे से नहीं हो रहा है, उस अंधकार में जहाँ कोई पदचिह्न छोड़े नहीं जा सकते, ऐसे मार्ग में जो मानो आकाश में मार्ग चल रहा हो उसमें कोई व्यक्ति कैसे चल सकता है। यदि स्थल पर कोई मार्ग हो तो संभव है किसी पहाड़-नदी का चिह्न स्थापित करके, पत्थरों के चिह्न स्थापित करके गति की जा सकती है अथवा मार्ग की धूलि और मार्ग की रुक्षता व कठोरता से भी अनुमान लगाया जा सकता है किन्तु जहाँ पर स्थूल भूमि ही न हो पथ ही न हो तो कैसे गति करें। जल के मार्ग में भी किनारे-किनारे से पहुँचा जा सकता है किन्तु नभ के मार्ग में कैसे चला जाये, वहाँ

पर कोई माइलस्टोन स्थापित नहीं किये जा सकते, वहाँ पर कोई अन्य प्रकार से दिशासूचक चिह्नों की स्थापना की नहीं जा सकती, फिर कैसे व्यक्ति लक्ष्य तक पहुँचे?

एकाकी व्यक्ति, असहाय व्यक्ति, बेसहारा, बेचारा व्यक्ति, बोधहीन व्यक्ति अंधकार में अपथ में कैसे गमन कर सकता है, इसीलिये कहा-

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयोर्विभिन्नाः, नासौमुनिर्यस्य वचः प्रमाणं।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां, महाजनो येन गतः स पंथः॥

'तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयोर्विभिन्नाः' यदि कोई व्यक्ति सम्यक्मार्ग की सिद्धि तर्क के माध्यम से करे तो आज तर्क अपने आप में स्वयं अप्रतिष्ठित हैं, तर्क ही अपने आप में अप्रमाण है, जो स्वयं अप्रमाणिक है उससे प्रमाण की खोज कैसे की जा सकती है। जो दीपक स्वयं अपना बोध कराने में असमर्थ है उस बुझे दीपक से अन्य दीपक कैसे खोजे जा सकते हैं। तर्क अप्रतिष्ठित है उसकी प्रतिष्ठा नहीं की जा सकती, उसी तर्क को देकर के उसी बात की पुष्टि भी की जा सकती है और उसी बात का खण्डन भी किया जा सकता है ऐसे प्राणहीन तर्क से सम्यक्मार्ग की पुष्टि करना असंभव है। ऐसे मृत तर्क के माध्यम से अनिष्टमार्ग का परिहार असंभव है। वह तर्क किसी के द्वारा किसी बात की पुष्टि कर रहा है, दूसरों के द्वारा उसी बात का खंडन कर रहा है इसीलिये तर्क से सिद्धि करना तो अशक्य है। क्या करना चाहिये।

आज विवेकशील व्यक्ति भी कहता है जो मार्ग युक्ति से युक्त है, तर्क से युक्त है उस मार्ग का अनुसरण करने में कोई बुराई नहीं इसीलिये तर्क से सिद्ध करो, तर्क से सिद्ध करना परम आवश्यक है। किन्तु तर्क से सिद्ध मार्ग अनुकूल ही हो, सम्यक् हो, प्रमाणिक हो यह बात नहीं कही जा सकती, तर्कों के सहारे जीवन नहीं जिया जा

सकता क्योंकि तर्कों के माध्यम से सिद्धांतों की सिद्धि होती है, तर्कों के माध्यम से श्रद्धा की सिद्धि नहीं होती। तर्कों की कसौटी पर श्रद्धा को नहीं कसा जा सकता, तर्कों की कसौटी पर केवल शब्दों के वाक्यों को प्रमाणित करने की चेष्टा की जाती है। तर्कों के माध्यम से आचरण को सिद्ध नहीं किया जा सकता, आचरण की सिद्धि तो चित्त की निर्मलता पर निर्भर करती है। तर्क तप के लिये आधार नहीं बन सकते। तर्क ध्यान का मार्ग प्रशस्त नहीं कर सकते तर्क तो वह नपुंसक दम्पत्ति है जिनके माध्यम से संतानोत्पत्ति की कभी कामना, भावना, संभावना व कल्पना ही नहीं की जा सकती है।

इसीलिये तर्क के सहारे बैठे व्यक्ति पर विश्वास करना आत्मघात करने के बराबर है। फिर क्या सहारा लें? क्या श्रुत का सहारा लें? वर्तमान काल में यह परीक्षा करना भी कठिन हो गया है कि कौन सा श्रुत सम्यक् है कौन सा असम्यक्, प्रत्येक व्यक्ति अपने श्रुत को तर्क के माध्यम से सम्यक् सिद्ध करने की चेष्टा में लगा है, तत्त्व को ग्रहण करने की भावना मर चुकी है। 'श्रुतयोर्विभिन्नः' अनेक प्रकार का साहित्य है इतना विपुल व प्रचुर साहित्य है यदि एक जीवन तो क्या सौ जीवन तक भी पढ़ता चला जाये तो श्रुत को पूर्ण नहीं कर सकता, उसमें से सत्य क्या है, असत्य क्या है खोज नहीं कर सकता। फिर क्या करे इस पंचम काल में? क्या नाना प्रकार के श्रुतों को छोड़कर कुतर्क का सहारा ले? आखिर आत्म हित कैसे करे? कोई साधक की यदि खोज करता है तब वही विडम्बना है 'नासौमुनिर्यस्य वचः प्रमाणं।'

आज कोई केवली मुनि नहीं, आज कोई मनःपर्यय ज्ञानी, अवधि ज्ञानी मुनि नहीं जिसके पास जाकर के अपनी जिज्ञासा का समाधान प्राप्त कर लें। सिद्धान्त के माध्यम से, अपने अनुभव के माध्यम से वह मुनि-साधक अपनी जिज्ञासा का समाधान करते हैं तो उनके

वचनों की प्रमाणिकता भी कैसे जानी जाये? उनके वचन प्रमाणिक भी हो सकते हैं, कदाचित् किसी के अप्रमाणिक भी हुये तो? हर व्यक्ति कहता है मैं मुनि हूँ, एक दिगम्बर अपने को कहता है मैं मुनि हूँ, वस्त्रधारी भी कहता है मैं मुनि हूँ। जब मुनि मुद्रा ही प्रमाणिक नहीं रही उसके वचन प्रमाणिक कहाँ से माने जायें। एक संन्यासी बहु आरम्भ-परिग्रह वाला भी कहता है मैं मुनि हूँ, यहाँ तक कि वह संन्यास के साथ अपने जीवन साथी को स्वीकार करके आश्रम में रहकर के भले ही वंशवृद्धि नहीं कर रहा है अपने जीवन साथी के साथ रहते हुये भी कहता है मैं मुनि हूँ, साधक-संन्यासी-साधु हूँ। ऐसे में किसके वचन को प्रमाणित किया जाये।

कषाय की तीव्रता का क्वचित दर्शन इन संतों में भी मिल जाता है, आपस में कई बार इनके अंदर भी ईर्ष्या और विद्वेष की भावना देखने में आती है यह असंभव नहीं है। कदाचित् मुनियों में भी यह विसंगति और दोष देखा जा सकता है, ऐसा नहीं है कि चाँद को कभी ग्रहण नहीं लगता, सूर्य को ग्रहण नहीं लगता। इसी तरह आज इस काल में मुनियों के चारित्र पर भी ग्रहण लगता दिखाई देता है और कहीं कहीं तो चारित्र से रहित भी अपने आप को मुनि सिद्ध करने में लगे हैं। और शायद वे ज्यादा प्रमाणित कर पा रहे हों कि हमारे वचन ज्यादा प्रमाणिक हैं। अब मुश्किल ये है कि तर्क अप्रतिष्ठित है, शास्त्र बहुल हैं और कोई एक प्रमाणिक व्यक्ति वर्तमान काल में नहीं है जिसकी समस्त बातें प्रमाणिक हों, हो सकता है किसी की 100 में से 98 बातें प्रमाणिक हों, किसी की दो-चार प्रमाणिक हों। आज छद्मस्थ होने के कारण, अज्ञानता व प्रमाद के कारण, कषाय के आवेश के कारण उनके शब्द भी स्खलित हो सकते हैं इसीलिये कौन सा शब्द स्खलित होकर के मिथ्या है, कौन से शब्द सम्यक् हैं ये अंदाजा लगाना बड़ा कठिन है। और धर्म इतनी

सूक्ष्म चीज है कि जिसे आज वर्तमानकाल के अंधकार में पर्वत जैसी स्थूल वस्तु भी दृष्टिगोचर नहीं हो रही तो बाल के अग्रभाग की तरह से अति सूक्ष्म वह धर्म कैसे पकड़ में आयेगा।

'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां' ऐसा लगता है धर्म के मूलतत्त्व तो किसी गुफा में जाकर छिप गये। जैसे शेर की दहाड़ को सुनकर वन्य जानवर गुफा में जाकर छिप जाते हैं उन्हें खोजना बड़ा मुश्किल हो जाता है ऐसे ही पंचमकाल में धर्म के मूल सिद्धान्त तो कहीं गुफा में जाकर छिप गये हैं उन्हें कहाँ खोजा जाये। इस तमाछिन्न जगत् में, तमोवृत इस चेतना में धर्म को कैसे खोजें? बड़ी विकट समस्या है उस धर्म को समझना, कदाचित् धर्म समझ में आ भी जाता है तो फिर उसे धारण करने की सामर्थ्य नहीं व्यक्ति को बहाने मिल जाते हैं कि ये मेरे बस की बात नहीं है, मैं ऐसा नहीं कर सकता, और जो कर सकते हैं वे कहते हैं मैं जितना जानता हूँ उतना करता हूँ। हो सकता है मैं सही नहीं जानता हूँ जब धर्म को सही जान ही नहीं सकते तब आचरण में कैसे लाया जा सकता है, जो आचरण कर सकते हैं वे कह रहे हैं हम गारण्टी से नहीं कह रहे कि हम जो आचरण कर रहे हैं वह धर्म का ही आचरण है या उससे हटकर के आचरण है।

धर्म की व्याख्या जब तक स्वानुभवगम्य नहीं होती, धर्म की व्याख्यायें जब तक अनुभूति की कसौटी पर सुखद फल देने वाली नहीं होती है तब तक उस धर्म को भी धर्म कैसे माना जाये। कोई कहता है व्यवहार धर्म के बिना मुक्ति नहीं, तो कोई कहता है निश्चय के बिना मुक्ति नहीं, कोई कहता है मैं व्यवहार को मिथ्या मानता हूँ, कोई कहता है मैं निश्चय को मिथ्या मानता हूँ, तो कोई कहता है मैं दोनों को ही मिथ्या मानता हूँ। धर्म क्या है? कोई कहता है धर्म अकथ्य है, तो कोई कहता है धर्म कथ्य है, कोई कहता है

धर्म आवरण की तरह से है तो कोई कहता है धर्म जागरण की तरह से है, कोई कहता है धर्म पगड़ी की तरह से है तो कोई कहता है धर्म चमड़ी की तरह से है, कोई कहता है धर्म प्राणों की तरह से है तो कोई कहता है धर्म बाण की तरह से है चुभता रहता है, कोई कहता है धर्म त्राण देने वाला है तो कोई कहता है धर्म कल्याण करने वाला है। कोई धर्म को चौराहे का नारा कहता है तो कोई धर्म को जीवन की धारा कहता है, कोई धर्म को चित्त का भाव कहता है तो कोई कहता है धर्म दाव की सौदा है कोई कहता है धर्म स्वभाव की सौदा है। कोई कहता है सद्भाव ही धर्म है तो कोई कहता है प्रभाव ही धर्म है ऐसे में धर्म को मानना बड़ा मुश्किल पड़ गया है। बहुत विषम परिस्थिति है अब क्या करें? कुछ भी नहीं सूझता क्या किया जाये, कोई रास्ता बचा ही नहीं, ऐसा लगता है सब मार्ग अवरुद्ध हैं सब द्वारा बंद कर दिये गये हैं, क्या किया जाये?

अब बस एक ही रास्ता बचता है वह रास्ता है-हमारी दृष्टि में जो महापुरुष हैं, प्रमाणिक पुरुष हैं, मंगलकारी हैं, लोकोत्तम हैं जो स्व और पर को शरण देने में समर्थ हैं, जो स्व और पर के लिये शांति में निमित्त बन रहे हैं जिन्हें पाकर के हमारा चित्त संतोष को, धैर्य को, आनंद को प्राप्त करता है, जो हमारे चित्त पर श्रद्धेय आराध्य के रूप में स्थापित हैं उन महापुरुषों का पीछा करो परछाई की तरह से यदि अपना कल्याण चाहते हो तो। एक क्षण के लिये भी साथ छोड़ दिया तो वह महापुरुष पकड़ में न आयेंगे। परछाई और महापुरुष के साथ में एक मिनट का भी अंतर पड़ गया तो पुनः वे पकड़ में नहीं आने वाले। गृहस्थ का कर्त्तव्य है कि वह साधु का पीछा न छोड़े और साधु का कर्त्तव्य है कि मुड़कर के गृहस्थ की ओर न देखे। यदि साधु की दृष्टि गृहस्थ पर लगी हुयी है किसी आशा से, इच्छा या कामना से तो वह अपना कल्याण करने में समर्थ

नहीं। और यदि किसी गृहस्थ ने उस महापुरुष की ओर से पीठ कर ली स्वोन्मुख नहीं है, परछाई की तरह से नहीं दौड़ रहा है तो वह भी अपना कल्याण नहीं कर सकता है।

इसीलिये कहा **"महाजनो येन गतः स पंथः।"** रास्ता वही है जिस पर महाजन/महापुरुष गमन करते हैं, गमन कर रहे हैं और उनके पीछे चलने से ही आत्म शक्ति जाग्रत होती है, मनोबल प्रकट होता है इसके साथ-साथ नकारात्मक ऊर्जा का क्षय किया जा सकता है, सकारात्मक ऊर्जा का उत्पादन किया जा सकता है। महाजनों का दर्शन भी पुण्य का कारण बनता है, पाप का प्रतिध्वंसक होता है। महापुरुषों का दर्शन भी परम्परा से मोक्षमार्ग ही कहलाता है। महापुरुषों का अनुगमन ही वर्तमानकाल में मोक्ष का कारण है या यूँ कहें महापुरुष ही शक्ति रूप से मोक्ष हैं, परमात्मा हैं इसीलिये सिर्फ और सिर्फ एक वही हमारे लिये आधार हैं।

हम भी उन महापुरुषों के चरणों में अपनी श्रद्धा टिकाते हुये उनके पदचिह्नों पर चलने का प्रयास करते हैं जिससे हम भी अपना कल्याण कर सकें। आपसे यही संकेत है कि उन महापुरुषों के संकेतों पर चलने का पुरुषार्थ करो ये कठिन जरूर है पर असंभव नहीं। इसी से आपका-हमारा कल्याण संभव है। हम आपके प्रति यही भावना भाते हैं कि आप भी महापुरुषों के पदचिह्नों पर चलकर अपनी आत्मा का कल्याण कर सकें, आपका मंगल हो, शुभ हो, आपके जीवन में वृद्धि और समृद्धि निरंतर बढ़ती रहे, इन्हीं मंगल सद्भावनाओं के साथ....।।

"जैनं जयतु शासनं"

जैन धर्म

महानुभाव! धर्म आत्मा को सुख-शांति आदि शाश्वत शुद्ध स्वभावों को प्रदान करने वाला है, धन शरीर को किंचित् सुख देने में यथा अवसर समर्थ हो पाता है। धर्म के बिना कोई भी जीव न तो कर्मों से मुक्त हो सकता है और न ही अपने शाश्वत वैभव को प्राप्त कर सकता है। धर्म के नाम पर यूँ तो विश्व में अनेक मत-धारणायें व मान्यतायें विद्यमान हैं, सबके अपने अलग-अलग सिद्धान्त हैं और सबका मानना यह है कि अमुक धर्म का पालन करने से आत्मा का कल्याण हो जायेगा। जिनशासन की भी ये मान्यता है और उनका यह विश्वास है, अनुभव है, प्रमाणिक है कि जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्रणीत जैनधर्म निःसंदेह प्रत्येक प्राणी मात्र का कल्याण करने में समर्थ है।

संभव है अन्य मतावलम्बी कहते हैं कि हमारे मत का पालन करने से हमारे मतावलम्बियों का कल्याण होगा, किंतु जिनानुयायी कहते हैं कि जो कोई भी प्राणी इसका आश्रय ले, उन सबका कल्याण होगा। आप लोग एक जयघोष करते हैं-

'जो माने सो अभय, जैन धर्म की जय'

अथवा

'जैन धर्म भई किसका है, जो माने सो उसका है।'

यह जैन धर्म किसी व्यक्ति विशेष का नहीं है, जिनेन्द्र देव के द्वारा प्रतिपादित है उत्पादित नहीं। क्योंकि धर्म का कभी उत्पादन नहीं होता, उत्पादन तो वस्तुओं का होता है स्वभावों का नहीं, स्वभावों का प्रकटीकरण होता है, उस स्वभाव को प्रकट करने के लिये यथायोग्य साधना की जाती है, आचरण का पालन करना होता है। यह धर्म किसी क्रिया विशेष पर आधारित नहीं है, यह धर्म भावों की

आधार शिला पर विद्यमान है। भावों की निर्मलता के लिये निर्वद्य क्रियायें की जाती हैं, जिनेन्द्र देव ने इसी धर्म का आलम्बन लेकर के अपनी आत्मा को परमात्मा बना लिया। ये एक मार्ग है, मार्ग पर जो कोई व्यक्ति चलेगा तो वह मंजिल पर पहुँचेगा, जो भोजन करेगा उसका पेट भरेगा, जो औषधि का सेवन करेगा वह आरोग्य लाभ को प्राप्त करेगा किन्तु जो व्यक्ति उसे जीवन में स्वीकार न करे तब धर्म के फल को कैसे प्राप्त कर सकता है। जिस प्रकार बिना बीज के वृक्ष की उत्पत्ति-वृद्धि-स्थिति संभव नहीं है उसी प्रकार धर्म के बिना जीवन में सुख-शांति-समृद्धि संभव नहीं है।

जैन धर्म व्यक्ति विशेष का नहीं है, व्यक्ति विशेष के लिये नहीं है, जैन धर्म एक पद्धति है यह प्रत्येक प्राणी मात्र के लिये है जो सुख शांति की कामना-भावना-अभिलाषा रखते हैं। क्या विशेषता है जैन धर्म की? क्या मैं जैन नहीं हो सकता? प्रत्येक आत्म हित का इच्छुक व्यक्ति जैन है, प्रत्येक सदाचारी व्यक्ति जिसके चित्त में अपनी आत्मा के समान दूसरे की आत्मा की दु:ख की अनुभूति है वह जैन है। जो अपनी आत्मा की तरह दूसरे की आत्मा को सुखी करना चाहता है वह जैन है। जिसकी जिनत्व को प्राप्त करने भावना-कल्पना व संकल्प है वह जैन है।

'जिन' शब्द जित् से बना है, जिसने अपने आप को जीत लिया है, जिसने अपने मन व इंद्रियों को जीत लिया है वह जैन है और वह जैन जिन बन जाता है। ऐसा भी कह सकते हैं जिन ही सच्चा जैन है। इस जिन मत की क्या विशेषता है? यूँ तो इस मत की आचरण संहिता भी अलग है, सिद्धान्त भी अलग हैं किन्तु इसके जो सामान्य आधार स्तम्भ हैं वह क्या हैं इसके बारे में लिखा है-

स्याद्वादो विद्यते यत्र, पक्षपातो न विद्यते।
अहिंसाया प्रधानत्वं, जैनधर्मो स उच्यते॥

वह जैन धर्म कहा जाता है जिसमें स्याद्वाद मत है 'स्यात्' कहिये तो कथंचित्, किसी अपेक्षा से 'वाद' कहिये तो बात/मत। किसी अपेक्षा से यह बात ठीक है इसे स्वीकार करना तो किसी अपेक्षा से वह बात ठीक है, सबकी बात ठीक है अपेक्षा अलग-अलग है। क्योंकि संसार में विद्यमान प्रत्येक वस्तु में अनेक धर्म होते हैं अनेक विशेषतायें होती हैं। कोई व्यक्ति किसी विशेषता को प्रमुख मानता है, दूसरा व्यक्ति दूसरी विशेषता को। स्याद्वाद इसी का नाम है। एक बार में एक ही विशेषता कही जा सकती है। स्याद्वादी अन्य व्यक्ति के द्वारा ग्रहीत और मान्य विशेषताओं को मिथ्या नहीं कहता, लुप्त नहीं करता गौण करता है। गौण का आशय होता है अभी इसकी प्रधानता नहीं है।

जैसे किसी सेठ के यहाँ पर पाँच पुत्र थे, तो जब जिस पुत्र का विवाह होता था उस समय उसका विवाहोत्सव किया जाता है, उस समय उसी पुत्र की विशेषता व महत्ता रहती उसी के गीत गाये जाते। सेठ भी कहता मेरा यह बेटा बहुत अच्छा है, जब लड़की वाले पहले बेटे को देखने आये तब सेठ जी ने कहा-मेरा यह बेटा सबसे श्रेष्ठ है, हीरा है, बाकी चार तो ऐसे ही हैं, उसका विवाह हो गया, जब नंबर दूसरे बेटे का आया तब भी ऐसे ही कहने लगा, मेरा यह बेटा तो हीरा है बाकी चार तो ऐसे ही हैं, तीसरे-चौथे नंबर के पुत्रों के लिये भी यही कहता पड़ौसी ने कहा-भैया क्या बात है। आप ऐसा क्यों कहते हो? सेठ जी ने कहा-भईया! जिसकी शादी होती है उसी के गीत गाये जाते हैं। मेरे सब पुत्र ही योग्य हैं किंतु एक समय में एक की प्रशंसा की जा सकती है।

तो स्याद्वाद इसका नाम है कि एक समय में किसी भी वस्तु के एक गुण-धर्म-विशेषता व पर्याय की चर्चा की जा सकती है एक साथ सबकी नहीं, दो की भी नहीं, और उसकी चर्चा या कथा एक

अपेक्षा के साथ करना ही सम्यक् होता है निरपेक्ष कथन मिथ्या कहलाते हैं। **सम्यक् एकान्तों का समूह ही अनेकान्त है,** मिथ्या एकान्तों का समूह कभी अनेकान्त नहीं बनता, वह मिथ्या ही कहलाता है सम्यक् नहीं हो जाता तो कहा 'स्याद्वाद विद्यते यत्र' जिस धर्म में स्याद्वाद कथन शैली है, स्याद्वाद होने से इस धर्म में कोई विवाद नहीं है, संवाद तो है संवादों को टालने की सामर्थ्य है "पक्षपातों न विद्यते" जिस धर्म में पक्षपात नहीं है निष्पक्ष है, उदार है सबको समान दृष्टि से देखने वाला है इसीलिये जिनेन्द्र भगवान् की धर्मसभा का नाम 'समवशरण' है। जहाँ पक्षपात नहीं सबको समान रूप से शरण दी जाती है।

इस मत के अनुसार कोई भी मोक्ष जा सकता है और कोई भी व्यक्ति अपने परिणामों की अपेक्षा किसी से आगे हो सकता है। एक राजा है एक गरीब, परिणामों की अपेक्षा एक गरीब भी राजा हो सकता है और राजा पीछे हो सकता है, एक तिर्यंच जीव भी एक देव से आगे हो सकता है, देव पीछे हो सकता है। एक नारकी जीव भी एक देव से पहले अपना कल्याण कर सकता है भोगभूमि का जीव कर्मभूमि के जीव से पहले अपना कल्याण कर सकता है। जैन दर्शन में कुछ भी असंभव नहीं है वहाँ परिणामों को महत्त्व दिया जाता है। जहाँ कोई पक्षपात नहीं जैसे परिणाम वैसा परिणाम (फल)। जिस प्रकार की करनी उस प्रकार की भरनी, जिस प्रकार के कर्म उस प्रकार के धर्म। बस ये बात समझ में आ जाये कि जो कुछ तुम करते हो वह अपने लिये करते हो, दूसरे के लिये नहीं तुम्हें उसका फल मिलेगा। यदि बुरा भी किया है तो अपने बुरे का फल दूसरों को मत दो, अच्छा किया है तो अच्छा करके कभी अहंकार का पोषण मत करो।

महानुभाव! जब पक्षपात से रहित होकर व्यक्ति नि:पक्ष होता है तभी व्यक्ति मध्य में रहकर अपने साध्य की सिद्धि कर पाता है। वाहन जब मार्ग में चलता है यदि उसका बेलेंस दाई ओर होता है तब भी वाहन पलट जायेगा, बाईं ओर बेलेंस होता है तब भी वाहन पलट जायेगा मध्य में वाहन चलेगा तभी गन्तव्य तक पहुँच पायेगा। स्याद्वाद को स्वीकार करने का आशय है मध्यममार्ग को स्वीकार करना, पक्षपात से रहित होकर वृत्ति करना।

अगली बात है "अहिंसाया प्रधानत्वं" जिनशासन में अहिंसा की प्रधानता है। अहिंसा के बिना जिनशासन का कोई अस्तित्व नहीं है, जैसे ऊष्णता के बिना अग्नि का कोई अस्तित्व नहीं, जैसे शीतलता के बिना जल का कोई अस्तित्व नहीं, जिस प्रकार चैतन्यता के बिना जीवात्मा का कोई अस्तित्व नहीं, गतिहेतुत्व के बिना धर्म द्रव्य का अस्तित्व नहीं, स्थितिहेतुत्व के बिना अधर्म द्रव्य का कोई अस्तित्व नहीं, अवगाहना हेतुत्व के बिना आकाश द्रव्य का कोई अस्तित्व नहीं, वर्तना लक्षण के बना कालद्रव्य का अस्तित्व नहीं है इसी तरह अहिंसा के बिना धर्म का कोई अस्तित्व नहीं है। यह अहिंसा सर्वोत्कृष्ट है, अहिंसा ही प्राण है, अहिंसा ही शरीर है यूँ कहें कि अहिंसा जिस धर्म का प्राण है सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह ये उसके 4 अंग हैं। ये उसके शरीर हैं, इंद्रियाँ हैं, मन है इसके बिना जैन धर्म का जीवंत स्वरूप अनुभवगम्य नहीं हो सकता। जिसमें सत्य नहीं है समझो उसमें जैन धर्म का शरीर नहीं है, अचौर्य नहीं है तो समझो उस जैन धर्म के जीवंत शरीर में मन नहीं है, ब्रह्मचर्य नहीं है तो प्राणवायु नहीं है, अपरिग्रह नहीं है तो समझो उसमें आयु कर्म नहीं जिसके सहारे वह जीता है। तो जैन धर्म की विशेषता ये है कि वह धर्म अहिंसा प्रधान है।

आचार्यों ने लिखा है जहाँ जिस मत में, सम्प्रदाय में अहिंसा को धर्म माना जाता है तब उस मत में कोई पाप या अधर्म हो ही नहीं सकता। जिसमें अंधकार को प्रकाश माना जाता है उसमें प्रकाश हो ही नहीं सकता, जिस मत में जहर को अमृत माना जाता है उस मत में अमृत हो ही नहीं सकता, जिस मत में मृत्यु को जीवन माना जाता है उस मत में जीवन हो ही नहीं सकता अर्थात् जहाँ हिंसा को धर्म माना जाता है वहाँ धर्म हो ही नहीं हो सकता, धर्म तो अहिंसा है। ज्यों-ज्यों जीवन में अहिंसा का प्रभाव बढ़ता चला जाता है त्यों-त्यों व्यक्ति के जीवन में धर्म का प्रकाश होता चला जाता है। जैसे आप जानते हैं दूध में ज्यों-ज्यों शक्कर डाली जाती है दूध की मिठास बढ़ती चली जाती है, सूर्य का उदय ज्यों-ज्यों होता चला जाता है प्रकाश बढ़ता चला जाता है, चन्द्रमा ज्यों-ज्यों बादलों से बाहर आता है त्यों-त्यों उसकी चाँदनी उज्ज्वल व धवल होती चली जाती है, महानुभाव! ज्यों-ज्यों औषधि का सेवन किया जाता है त्यों-त्यों आरोग्य का लाभ होता चला जाता है, ज्यों-ज्यों भोजन किया जाता है त्यों-त्यों क्षुधा शांत होती है, ज्यों-ज्यों नीर का ग्रहण होता है त्यों-त्यों पिपासा शांति को प्राप्त होती चली जाती है।

अहिंसा का संवर्धन ही जीवन में धर्म का मूलरूप है। अहिंसा हमारे व्यवहार में, आचरण में, विचारों में व जीवन पद्धति में भी आये। केवल वचनों की अहिंसा आत्मा को परमात्मा न बना सकेगी। अहिंसा वचनों में भी हो, वचन कटु वा असत्य नहीं हों, वचन कभी अप्रिय व निंद्य नहीं हों, वचन सदैव हित-मित-प्रिय हों। चौर्य भाव कभी मन में भी न आये, मिथुन भाव आत्मा के रूप से विचलित करने वाला है, जो मिथुन भाव का परित्यागी है वही अच्युत अवस्था को प्राप्त करने में समर्थ होता है। ब्रह्म अवस्था में रहने वाला ही अच्युत अवस्था को प्राप्त करता है और अपरिग्रह जो कि समस्त

विघ्न-बाधाओं का निवारण करने का उत्तम साधन है, अपरिग्रह के बिना समागत विघ्न बाधाओं का परिहार नहीं किया जा सकता, इसीलिये ये चार व्रत भी अहिंसा की पुष्टि के लिये हैं। इन चार व्रतों के साथ ही अहिंसा निराकुल रूप से जीवंत रहती है।

अहिंसा व्यवहार में भी आये। जो व्यवहार आपको अपनों के लिये पसंद नहीं है, वह व्यवहार दूसरों के लिये भी मत करो। अहिंसामय व्यवहार है कि मेरा आत्मा शाश्वत है, मैं दु:ख नहीं चाहता तो दूसरों की आत्मा को भी दु:ख मत देना। यह अहिंसा ही नि:संदेह हमारी आत्मा का शुद्ध स्वभाव है। दूसरी बात-विचार में अहिंसा होनी चाहिये। विचार अहिंसक तभी हो सकते हैं जब चित्त में निर्मलता आये, रागद्वेष की कीचड़ न हो, कषायों का उद्वेग न हो, बुद्धि मिथ्यात्व से ग्रसित न हो, कोई दुराग्रह न हो तो विचारों में अहिंसा आविर्भूत होती है।

महानुभाव! अहिंसा आचरण में आना भी जरूरी है, आचरण में अहिंसा नहीं होती तब जीवन नि:संदेह निंद्य व अधम बन जाता है, वह आत्मा को पवित्र नहीं, अपवित्र करने वाला होता है। उस आचरण की अहिंसा का प्रारंभ होता है आहार से। जिसके आहार में अहिंसा आ गयी नि:संदेह उसके व्यवहार में, आचरण में, विचार में और जीवन के समस्त आधारों में अहिंसा दृष्टिगोचर होगी। अहिंसा जीवन का आधार बने, जीवन का भार न बने। अहिंसा से ही जीवन का सार मिलता है, सुखों का आधार मिलता है, उस अहिंसा से ही मोक्ष का द्वार मिलता है। वह अहिंसा समस्त विकारों का निराकरण करने वाली है। ऐसी अहिंसा आपकी चित्त की भूमि पर उदय को प्राप्त हो, जैसे क्षितिज में मार्तण्ड उदय को प्राप्त होता है वैसे ही अहिंसा जब आपकी चेतना के क्षितिज पर उदीयमान अवस्था को प्राप्त होगी तब ही आप उस धर्म को ग्रहण कर पायेंगे, जिस धर्म का नाम है 'जैनधर्म।'

स्याद्वाद को स्वीकार करना, अनेकान्त को स्वीकार करना, पक्षपात से रहित होना, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह को स्वीकार करना ये जैनधर्म के मूल सिद्धान्त हैं इन्हें प्राप्त करके ही आप जिन-सिद्ध व शिव बन सकते हैं। आप शिवत्व को प्राप्त करें ऐसी शुभ भावना भाते हैं, आप अपने शाश्वत वैभव को प्राप्त करें इन्हीं मंगलभावनाओं के साथ अपनी वाणी को विराम देते हैं।

"जैनं जयतु शासनं"

सेवनीय चार पदार्थ

महानुभाव! सज्जन पुरुषों के द्वारा सेवनीय क्या है और असेवनीय क्या है? जो दुर्जनों के द्वारा सेवनीय है वह सज्जनों के द्वारा असेवनीय है और जो सज्जनों के द्वारा असेवनीय था उसका परित्याग किये बिना सज्जन सेवनीय पदार्थ को प्राप्त नही कर पाते। ऐसा क्या है जिसका सेवन करना अनिवार्य है, सज्जन के लिये कभी भी, किसी भी परिस्थिति में उसका परिहार नहीं किया जा सकता। वह चार वस्तुयें हैं जिन्हें धर्मात्मा सम्यग्दृष्टि किस प्रकार सेवन करता है आचार्य महोदय श्री अमितगति स्वामी जी ने 'मरण कण्डिका ग्रंथ' में लिखा है-

जीवेषु सेव्या सकलेषु मैत्री, परानुकंपा करुणा पवित्रा।
बुधैरुपेक्षा सुख-दुःख-साम्यं, गुणानुरागे मुदितावगम्य॥

आचार्य महोदय कह रहे हैं-"जीवेषुसेव्या सकलेषुमैत्री' बुधजनों के द्वारा सेवन करने के योग्य अर्थात् जो विवेकी हैं, ज्ञानवान् हैं, चतुर हैं उनके द्वारा सेवनीय चार वस्तुयें हैं-अन्य कोई व्यक्ति उनका सेवन नहीं कर सकता। जो सेवन कर रहा है वह ज्ञानी है और ज्ञानी ही इनका सेवन कर सकते हैं। यह ज्ञानी का एक लक्षण है। मूर्ख व्यक्ति चाहकर भी इनका सेवन नहीं कर सकते। जैसे काक अंगूर को नहीं खा सकता, जब अंगूर की फसल आती है तो काक के कंठ में रोग हो जाता है। लोमड़ी भी ग्रहण नहीं कर पाती, वह कहती है अंगूर खट्टे हैं क्योंकि वह वहाँ पहुँच नहीं पाती। जैसे नारकी वैक्रियक शरीर को धारण करते हुए भी शुभ विक्रिया नहीं कर पाते, जैसे मिथ्यादृष्टि अवधिज्ञानी अपने अवधिज्ञान के माध्यम से आत्महित की बात नहीं सोच सकते, जैसे कषाय के आवेग से युक्त मनोबली जिसके ज्ञानावरणी कर्म का क्षयोपशम है ऐसा वह श्रुतज्ञानी कषाय के आवेश में दूसरों का अहित ही सोच सकता है हित नहीं, उसी

तरह से दीर्घसंसारी, मिथ्यादृष्टि, कषायावेश से युक्त व्यक्ति इन चार पदार्थों का सेवन नहीं कर सकते।

'बुधैःसेव्या' ये बातें बुद्धिमानों के द्वारा ही सेवन करने के योग्य हैं पहली बात कही-सकलेषु जीवेषु मैत्री संसार के सकल जीवों में मैत्री भाव का होना। मैत्री भाव किसे कहते हैं-**"परेषु दुःखानुत्पत्यभिलाषा मैत्री"** दूसरों को कभी दुःख प्राप्त न हो, सच्चा मित्र वह होता है जो अपने मित्र को कभी दुःख में न देख सके, उसे हर प्रकार के दुःखों से बचाने का प्रयास करे, उसे पाप से बचाये, हित के मार्ग में लगाये, गुप्त बात को छिपाकर के रखे, उसके गुणों की प्रशंसा करे, धर्म का सम्प्रेरक हो, प्रतिकूलताओं में उसका सहारा-सम्बल बनने वाला हो वह मित्र है। तो मित्र जैसा भाव संसार के समस्त प्राणियों के प्रति कौन कर सकता है? वही जो ज्ञानी है, विवेकी है, समझदार है, चतुर है। जो मूर्ख है वह संसार के समस्त प्राणियों के प्रति मैत्री भावना नहीं रख सकता, वह तो कुछ व्यक्तियों के साथ मैत्री भाव रख सकता है। वह तो दो-चार व्यक्तियों के साथ मित्रता का व्यवहार निभा सकता है वह भी सदा नहीं वरन् जब तक उसका स्वार्थ सध रहा है तब तक। किंतु ज्ञानी पुरुष ऐसा है जो संसार के समस्त प्राणियों के प्रति मैत्री भाव की स्थापना अपने चित्त में कर सकता है।

महानुभाव! किसी के मन में जिज्ञासा हो सकती है कि क्या ज्ञानी प्राणी ऐसा कर सकता है? क्या वह संसार के सभी प्राणियों को जानता है, क्या सबसे उसका परिचय है, जब सबको जानता नहीं, परिचय नहीं तो सबके प्रति मैत्री भाव कैसे रख सकता है? तो मैत्री भावना के लिये सबको मित्र बनाना जरूरी नहीं है, मैत्री भावना के लिये अपने चित्त को मित्रानुकूल बना लेना पर्याप्त है। तुम्हारा चित्त मित्र जैसा बन जाये तो तुम्हारे चित्त में सब मित्र जैसे दिखाई देंगे। जो

मित्र का मित्र के प्रति हृदय होता है वह हृदय तुम्हारा बन गया तो तुम्हारे हृदय में कलुषता, बैर, द्वेषादि का किंचित् भी भाव नहीं रहेगा।

यहाँ मैत्री की बात कही, संसार के समस्त जीवों के प्रति मैत्री भाव हो। कोई भी जीव ऐसा न रहे चाहे वे जीव कल सहित हों और चाहे कल रहित हों। सकल जीव हैं या निकल जीव, शरीर सहित या शरीर रहित। सकल अर्थात् सम्पूर्ण जीव राशि के प्रति मैत्री भाव। उसके मन में कभी यह भाव ही नहीं आता कि मेरा कभी किसी ने अहित किया है, उसके मन में एक भावना चिर स्थायी हो जाती है, पाषाण पर उकेरी गयी लकीर की तरह से जिसके चित्त में धारणा बनी हुयी है कि मेरे सिवाय मेरा कोई अहित नहीं कर सकता और जब मेरा कोई अहित नहीं कर सकता तो मैं किसी को शत्रु कैसे कह सकता हूँ। शत्रु तो उसे माना जाता है जो मेरा अहित करे, और संसार का कोई भी प्राणी मेरा अहित नहीं कर सकता, मेरा अहित जब भी होगा मेरे पाप कर्म के उदय से ही होगा।

यदि ऐसी ही बात है, तो फिर संसारी प्राणियों को अपना मित्र क्यों मानते हो? जब शत्रु नहीं मान रहे, कोई अहित नहीं कर सकता तो तुम्हारा कोई हित भी नहीं कर सकता। हाँ ठीक है, अहित नहीं कर सकता तो अब वे तुम्हारे शत्रु तो नहीं हैं और तुम कह रहे हो हित नहीं कर सकते किंतु हित किया जा सकता है, कैसे? उनके प्रति मैत्री की भावना तुम्हारे मन में आ जाये इससे ही तुम्हारा हित हो जायेगा, उनके प्रति मैत्री की भावना बनी तभी तो हित हुआ, यदि उनके प्रति शत्रुता की भावना होती तो हित नहीं होता। तो शत्रुता की भावना बनने से वे तुम्हारे अहित में कारण बन गये और तुम जानते हो अहित में कोई कारण बन नहीं सकता। तो फिर? मैत्री में तुमने अपने मन को उनके प्रति मैत्री भाव से युक्त किया तो ये मैत्री भावना ही तुम्हारे लिये हित का कारण बन गयी। तो यह मैत्री बुधजनों के द्वारा सदा सेवनीय है।

अगली बात कही-'परानुकंपा करुणा पवित्रा' जो जीव दु:खी हैं, त्रस्त हैं, परेशान हैं, असहाय हैं, बेचारे हैं उनके प्रति अनुकंपा की भावना। यह अनुकंपा-करुणा-दया की भावना चित्त को पवित्र करने वाली है। दया के जल से चित्त शुद्ध किया जाता है, जैसे जल से कीचड़ को धोया जाता है वैसे ही मन के विकारों को धोने के लिये दया निर्मल जल की तरह से है। करुणा और अहिंसा ये क्षारीय पदार्थ की तरह से चित्त के विकारों को दूर करने वाली हैं। इनके दूर होते ही चित्त स्वत: पवित्र होने लगता है। वह पवित्रता आनंद का साक्षात् हेतु है यदि आपको यकीन नहीं है तो आप अपने चित्त को पवित्र करके देखो, जब-जब आपका चित्त पवित्र होता है तब-तब आपको आनंद की अनुभूति होती है। आनंद पवित्रता में है, आनंद निर्विकार अवस्था में है, आनंद निर्मलता में है, विशुद्धि में है, संक्लेशता की हानि में है, आनंद आपके सहज स्वभाव में गमन करने में है।

अगली बात कही 'बुधैरुपेक्षा सुखदु:खसाम्यं' बुद्धिमान् व्यक्ति सुख-दु:ख की उपेक्षा करते हैं अपेक्षा नहीं करते, सुख की अपेक्षा हो या दु:ख की अपेक्षा हो दोनों ही दु:ख रूप हैं। सुख की अपेक्षा से सुख मिल भी जाये तब भी वह दुख ही है क्योंकि दु:ख का कारण होने से, नहीं मिले तब भी दु:ख ही है क्योंकि नहीं मिलने से। दु:ख की अपेक्षा करना दु:ख ही है मिल जाये तब भी दु:ख ही है न मिले तब भी उसके लिये दु:ख ही इष्ट था उसकी प्राप्ति न होने से वह दु:ख रूप है। इसीलिये सुख और दु:ख दोनों की उपेक्षा करना चाहिए।

उपेक्षा कैसे करना? सुख और दु:ख पुण्य और पाप का फल है। पुण्य-पाप कर्म आपके द्वारा निरन्तर होते रहते हैं और आपको उपदेश भी दिया जाता है पापों से बचो पुण्य कर्म में लगो फिर यहाँ उपेक्षा क्यों कह रहे हैं? पुण्य-पाप की उपेक्षा की बात नहीं, उपेक्षा की बात है सुख-दु:ख के फल की।

पुण्य पाप फल माँहि, हरख बिलखो मत भाई।
ये पुद्गल परजाय, उपज विनशे थिर नाहिं।।

पुण्य और पाप दोनों कर्म हैं और इसके फल इसकी चमक की तरह से हैं। कृष्ण पदार्थ से आभा कृष्ण ही निकलती है और धवल पदार्थ से आभा धवल निकलती है। पुण्य कर्म से इष्ट पदार्थों की संप्राप्ति और पाप कर्म के उदय से अनिष्ट पदार्थों की संप्राप्ति होती है। पुण्य-पाप हमारा अहित तब तक नहीं कर सकता जब तक हम पुण्य और पाप के फल में हर्ष-विषाद न करें, राग-द्वेष न करें, मन हमारा विकृत न हो, हमारी चित्तवृत्तियाँ मलिन न हों और हम निर्मल चित्त वाले बने रहें तो सुख-दु:ख हमारा बाल भी बांका नहीं कर सकता।

महानुभाव! सुख-दु:ख में समता रखने की बात कही, इसीलिये बुधजन सुख आने पर इतराते नहीं हैं और दु:ख आने पर घबराते नहीं है। सुखों में फूलते नहीं दु:खों में कूलते नहीं, सज्जन पुरुष सुखों को देखकर के अति संतुष्ट नहीं होते, दु:खों को देखकर संक्लेशित नहीं होते। सुखों में कर्त्तव्य को भूलते नहीं दु:खों को प्राप्त करके कर्त्तव्य पालन की क्षमता से चूकते नहीं। इसीलिये सुख-दु:ख मेरे कर्म के फल हैं, मेरी चित्त वृत्ति की परछाईयाँ हैं, कोई और नहीं हैं। अपनी चित्त वृत्तियों को समझ लो, और फिर उन चित्त वृत्तियों पर उन परछाईयों को उत्पन्न मत होने दो तो सुख-दुख उत्पन्न नहीं होगा। चित्तवृत्ति शुद्ध है तो सुख-दु:ख नष्ट हो गये, चित्त की शुभ वृत्ति पुण्य रूप होती है, चित्त की अशुभ वृत्ति पाप रूप होती है। चित्त की वृत्ति बिम्ब की तरह से है और सुख-दुख उनके प्रतिबिम्ब परछाई की तरह से हैं। इसीलिये कहा सुख-दु:ख में समता का भाव धरें।

दु:ख में समता का भाव रखने की कोशिश तो प्राय:कर संसार के सब प्राणी करते हैं और दु:ख में जब परिणाम बिगड़ते हैं तब समझाने वाले भी बहुत आ जाते हैं, कोई न कोई निमित्त मिल ही जाता

है समझाने वाला किंतु सुख में जब व्यक्ति गिरता है तब समझाने वाले मुश्किल से मिलते हैं। मिल भी जायें तो बात समझ में नहीं आती। दु:ख में समझ में तो आता है क्योंकि व्यक्ति जब कुँए में नीचे गिर रहा हो तो समतल पर खड़े व्यक्ति उसे उठा लेते हैं, पकड़ लेते हैं, पर्वत से गिर रहा हो तब भी उठाने के लिये साधन मिल सकते हैं किन्तु व्यक्ति अपनी दृष्टि में गिर रहा हो उसे कौन उठा सकता है। अपनी दृष्टि में गिरते व्यक्ति को संसार का कोई प्राणी उठा नहीं सकता इसीलिये जीवन में चाहे कुछ भी हो जाये कभी अपनी दृष्टि से मत गिरो, अपनी दृष्टि से गिरे व्यक्ति का कोई ठिकाना नहीं, कोई आश्रय व आलम्बन नहीं।

महानुभाव! दु:ख में रोते व्यक्ति के आँसू तो कोई भी पोंछ सकता है पर सुख में दूसरों को रुलाते व्यक्ति को कौन समझा सकता है। सुख में व्यक्ति दूसरों को रुलाने में अधिक सफल हो जाता है। किंतु यहाँ पर कह रहे हैं दु:ख में भी समता का भाव रखो और सुख में भी समता का भाव रखो। अंतिम बात कह रहे हैं-

'गुणानुरागे मुदितावगम्य' गुणों में अनुराग के साथ मुदित होना। गुणों को जानकर के उनमें अनुराग करते हुये मुदित होना, हर्षित होना। किसी की प्रशंसा करते-करते थको मत, बाज आओ दूसरों की निंदा करने से, जी चुराओ दूसरों के दोषों को कहने से किंतु गुण प्रशंसा करोगे तो तुम नि:संदेह गुणी बन जाओगे। दूसरों की व्याख्या करने से आज तक कोई भी गुणपुंज नहीं बना, निंदा करने से कोई प्रशंसनीय नहीं बनता है। निंदा करने का शौक है तो आत्मा की निंदा करो।

यहाँ कह रहे हैं धर्म को, धर्मात्माओं को उनके फलों को देखकर के आनंद से आपका हृदय भर जाये जैसे मूसलाधार वर्षा से तालाब भर जाते हैं, झील नदी भर जाती हैं ऐसे ही धर्मात्मा को

देखकर के, धर्म की क्रियाओं को देखकर के, धर्म के फलों को देखकर के, धर्म के अनुष्ठान को देखकर के और स्वयं धर्म में स्थिर होकर के आनंद का अनुभव करो, आनंद से लबालब भर जाओ। यही वास्तव में धर्मात्मा के द्वारा सेवनीय है। यही उसका कर्त्तव्य है।

महानुभाव ये चारों भावनायें आपके अंदर आयें, आप नित्य पढ़ते हैं-

मैत्री भाव जगत में मेरा, सब जीवों से नित्य रहे।
दीन दुखी जीवों पर मेरे, उर से करुणा स्रोत बहे॥
दुर्जन क्रूर कुमार्ग रतों पर, क्षोभ नहीं मुझको आवे।
साम्य भाव रखूँ मैं उन पर, ऐसी परिणति हो जावे॥
गुणीजनों को देख हृदय में, मेरे प्रेम उमड़ आवें।
बने जहाँ तक उनकी सेवा, करके यह मन सुख पावे॥

इन पंक्तियों को बार-बार गुनगुनाना चाहिये, चिंतवन करना चाहिये। ये आनंद की स्रोत हैं, ये मीठे अंगूर हैं जितना चूसोगे उतना स्वाद आयेगा, इक्षुदण्ड हैं इनमें मधुर रस भरा हुआ है। इसीलिये आप चेतना के मधुर रस का सेवन करें यहीं हम आपके प्रति मंगलभावना भाते हैं और इन्हीं सद्भावनाओं के साथ....।।

"जैनं जयतु शासनं"

टकराव नहीं समझौता

जीवन में संयोग वियोग नियम से होते हैं। उन संयोग के क्षणों में जो व्यक्ति समझदारी से काम करता है, समन्वय की नीति लेकर के चलता है, स्याद्वाद के सिद्धांत को जीवंतता प्रदान करने वाला होता है वह व्यक्ति जीवन में सुख और शांति का अमृतपान करता है।

जिस व्यक्ति के जीवन में समन्वय, समझदारी और स्याद्वाद की शैली नहीं है ऐसा व्यक्ति अपने साथ वाले से, अपने पास वाले से और खुद अपने आप से लड़कर के झगड़कर के स्वयं के लिए और दूसरों के लिए संक्लेशता पैदा करने वाला होता है।

जहाँ पर टकराव है वहाँ पर दु:ख है, अशांति है, कलह है, बिखराव है, संक्लेशता है। जहाँ पर समन्वय है, चिन्तन है, मन्थन है, जोड़ने की नीति है वहाँ पर सुमति है, सुबुद्धि है, संस्कार हैं, सहिष्णुता है, सुख है।

महानुभाव! एक छोटी-सी बात आप से कहूँ। एक कोई राहगीर अपनी राह पर चला जा रहा है, ग्रीष्म काल का समय है, पृथ्वी भी ऐसी लग रही है जैसे तवे की तरह तप रही है, उस जून के महीने में इस प्रकार की भयंकर गर्मी और लू, जो लू आँधी का रूप लेकर चल रही है। जंगल में वृक्षों ने अपने सभी पत्तों को दिगम्बर मुनि की तरह से छोड़ दिया है, जैसे मानो दिगम्बर संतों ने सभी परिग्रह का त्याग कर दिया हो। सभी वृक्ष दिगम्बर निरीह, एकाकी खड़े हैं किन्तु उनके समीप में अन्य वृक्ष तपे हुए होने से ऊष्ण हो रहे हैं, वह चलती हुई लू और आँधी उन वृक्षों को उखाड़ने में, झुकाने में पूर्ण जोर लगा रही है। जो वृक्ष झुकने में समर्थ हैं वे टूट नहीं रहे और जो वृक्ष झुकने में समर्थ नहीं वे टूटते चले जा रहे हैं। उस पथिक का उपयोग सामने वाले बाँस के वृक्षों पर जाता है, वहाँ बाँस के

बहुत सारे वृक्ष खड़े हैं किन्तु पत्ते नहीं, वह तपती धूप बाँस के वृक्षों को गर्म किए जा रही है, इतना ही नहीं वह चलती हुई लू बाँसों में एक घर्षण पैदा कर रही है, बाँस आपस में टकरा रहे हैं, जंगल की शांति भंग हो रही है।

वह पथिक बार-बार आगे-पीछे, दायें-बायें मुड़कर के देखता है कि यह भयंकर आवाज कहाँ से आ रही है किन्तु जहाँ से आवाज आ रही है वहाँ पर कुछ दिखाई नहीं दे रहा है और वहाँ पर ऐसा लगता है कि शांति होना चाहिए। सत्यता यही है कि जहाँ शांति होना चाहिए वहाँ से आवाज आ रही है। जंगल में कई बार ऐसा होता है कि आवाज कहीं से पैदा होती है और सामने वाले पहाड़ से टकराकर गूँजती हुई पूरे जंगल में फैल जाती है, लगता तो ये है कि आवाज सामने से आ रही है किन्तु वास्तव में आवाज पीछे से आ रही होती है।

देखते-देखते आवाज तेज होती गई और आवाज के साथ अग्नि की चिंगारियाँ निकलने लगीं और उन बाँस के वृक्षों से अग्नि प्रज्ज्वलित होकर पूरे जंगल में आग उत्पन्न हो जाती है। वह पथिक दौड़ता है अपने प्राण बचाने के लिए। वह दौड़ा चला जा रहा है, क्योंकि उसे लग रहा है कि जंगल की अग्नि से बचना बड़ा मुश्किल है। क्योंकि अग्नि जो लगी है वह आपसी टकराव से लगी है। संभव ये था कि यदि बांस के पेड़ से कोई नीम या बबूल टकराता तो अग्नि नहीं लगती, संभव ये है कि उस बाँस के पेड़ से मिट्टी या पत्थर टकराता तो शायद अग्नि नहीं लगती। वह बाँस के पेड़ स्वयं इतने शुष्क हो गए कि उनमें आर्द्रता नहीं है, जहाँ आर्द्रता, नमी और स्निग्धता नहीं होती वहाँ अग्नि और संताप पैदा हो जाता है।

जब हरे-हरे पत्ते आते थे तो बाँस कभी प्रेमभाव से रहते थे। बाँसों की छाया में कोई राहगीर आकर के बैठता था वह शांति का

अनुभव करता था, उसके समीप का जल बाँसों के कारण मिष्ट हो जाता और जल पथिक की तृषा को शांत करता था तथा उसमें ऊर्जा का संचार करता था। उसकी क्षुधा भी कुछ क्षण के लिए शांत हो जाती किन्तु आज वही बाँस शुष्क, नि:स्निग्ध और नीरस हो गए हैं इसलिए वह बाँस खल बन गए हैं।

जिस तिल या सरसों में से स्निग्धता निकाल दी जाती है तो वह खल बन जाती है। ऐसे ही जिस मनुष्य के हृदय में से स्निग्धता, प्रेम, मैत्री व वात्सल्य भाव निकाल दिया जाता है तो वह मनुष्य भी खल (दुष्ट) कहलाता है। वह बाँस भी दुष्टों की तरह लंबे तो हो गए हैं किंतु छाया देने में असमर्थ हैं। व्यक्ति चाहे कितना भी बड़ा हो जाए यदि वह दूसरों को छाया नहीं दे सकता, शरण नहीं दे सकता, उपकार नहीं कर सकता तो वह भी सूखे बाँस की तरह से खल है। ऐसा व्यक्ति सिर्फ आपस में टकरा सकता है, चाहे वह दूसरे से नहीं टकराये किन्तु अपनों से अवश्य टकरायेगा। जब दो सगे भाईयों के टकराने से आग लगती है तो केवल वही परिवार और घर जलकर के राख नहीं होता है बल्कि आस-पास में रहने वाले परिवार, घर और व्यक्ति भी उस अग्नि से संतप्त हो जाते हैं। यदि जंगल में आग लगती है तो केवल वही बाँस का पेड़ जलकर राख नहीं होता बल्कि आसपास के वृक्ष भी स्वाहा जो जाऐंगे। क्योंकि जंगल जहाँ नि:स्निग्धपना है वहाँ अन्य वृक्षों में भी नि:स्निग्धत्व उत्पन्न हो जाता है और घर्षण पैदा होते ही अग्नि पैदा हो जाती है और अग्नि सब कुछ स्वाहा कर देती है। घर्षण अग्नि पैदा करता है, घर्षण सत्य को, गुणों को, स्वभाव को नष्ट करने वाला होता है।

इसके विपरीत जब वही पथिक दौड़ता-दौड़ता अपने प्राणों को बचाकर के एक ग्राम की तरफ आया। रात्रि में एक घने वृक्ष की छाँव में उसने विश्राम भी किया। वहाँ पास में एक जलाशय भी था।

उस जलाशय से स्पर्शित शीतल हवा ने और सरोवर में उठती लहरों की ध्वनि ने उसे मंत्रमुग्ध जैसा कर दिया। उस पथिक के चित्त में इतना आनन्द, आह्लाद और प्रसन्नता का भाव जागृत हुआ कि वह सोचने लगा कि "यहाँ से अब कहीं जाना नहीं चाहिए, यहीं पर अब स्वर्ग समान आनंद है।"

जहाँ आर्द्रता है वहाँ पर निस्संदेह शांति है, सुख है, वात्सल्य है, प्रेम है, आदर है, सत्कार है, सुसंस्कार हैं। उस जलाशय में या सरोवर में जो कि कमलों को उत्पन्न करने वाला है, वह सरोवर पक्षियों को आमन्त्रित करने वाला है, वह सरोवर प्यासे पशुओं को बुलाने वाला है, वह सरोवर सभी को स्थान देने में समर्थ है।

जिस व्यक्ति की आँखों में जल है वह सब जगह सम्मान प्राप्त करता है। जिस व्यक्ति के नेत्रों का जल सूख जाता है वह बेहया, बेशर्म कहलाता है, दुष्ट हो जाता है, ऐसा व्यक्ति कहीं भी ना तो आदर-सम्मान प्राप्त कर पाता है और ना ही किसी को आदर सम्मान दे पाता है।

वह पथिक रात्रि व्यतीत करके वहाँ से आगे बढ़ता है, यद्यपि वह उस स्थान को छोड़कर जाना नहीं चाहता। इतने शीतल शांतिप्रद स्थान को छोड़कर कौन जाना चाहेगा, जहाँ ऐसी शान्ति मिलती है। शांति को कोई छोड़ना नहीं चाहेगा किन्तु कई बार व्यक्ति की मजबूरी भी होती है, व्यक्ति मजबूर होता है, उसे आगे बढ़ना होता है। लक्ष्य प्राप्ति के लिए चलना ही अनिवार्य है, बैठकर के लक्ष्य प्राप्ति कभी नहीं होती। हाँ यदि अन्तरंग का लक्ष्य हो तो बैठकर के मिल जाता है किन्तु बाहर में बैठे हुए होने से अन्तरंग में फिर भी गति करनी पड़ती है। बाहर का लक्ष्य बाहर चलने से प्राप्त होता है और अन्तरंग का लक्ष्य अन्तरंग में चलने से प्राप्त होता है। अब पथिक आगे जाता है क्योंकि वह पथिक है, और पथ पर चलना

उसका कर्त्तव्य है तभी वह मंजिल को प्राप्त करेगा। यदि वह मंजिल पर पहुँच जाएगा तो आगे पथ ही ना रहेगा। जब पथ ही ना रहेगा तो पथिक भी नहीं रहेगा। मंजिल प्राप्त होते ही पथ और पथिक दोनों मृत अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं। पथिक और मंजिल दोनों एक हो जाते हैं। जब तक मंजिल नहीं मिली तब तक पथ भी है और पथिक भी। वह पथिक बिना पाथेय के मंजिल को प्राप्त नहीं कर सकता। उसे पाथेय लेकर भी चलना पड़ता है। कभी पथ में काँटे भी मिलते हैं, कभी फूल भी मिलते हैं, कभी शूल मिलते हैं, कभी पथ में कंकड़ पत्थर भी मिलते हैं, कभी अच्छे व्यक्ति तो कभी बुरे व्यक्ति भी मिलते हैं। कभी पथ में सम्मान मिलता है तो कभी अपमान भी, कभी सुख भी मिलता है तो कभी दु:ख भी। पथ तो पथ है। जो पथ को सुपथ मानकर के चलता है उसको मंजिल सुगमता से मिल जाती है, जो पथ को कुपथ मानकर चलता है उसकी मंजिल उससे दूर हो जाती है।

पथिक चला जा रहा है। उसने गाँव में प्रवेश किया। जैसे ही गाँव में प्रवेश किया वहाँ गाय, भैसों के रमाहने की आवाज सुनी तो उसे बहुत आनन्द आया ऐसा लगा 'जो प्राकृतिक वातावरण जंगल में नहीं वह इस ग्राम में है।' यह ग्राम ग्राम नहीं, यहाँ पर राम का वास है। जहाँ राम का वास होता है वहाँ पर वह ग्राम वास्तव में सद्ग्राम बन जाता है। वहाँ पर निवास करने वाले व्यक्ति का शुभ नाम हो जाता है। जहाँ सज्जनों का वास नहीं होता वहाँ पर निस्संदेह सुख शांति नहीं मिलती। वह पथिक और आगे बढ़ा। प्रात: का समय उसने सुना कि कुछ मधुर-मधुर संगीत की आवाज आ रही है, बहुत मधुर संगीत बज रहा है जो कि कर्णप्रिय है, हृदयहारी है, चित्ताकर्षक है। वह उस संगीत की ध्वनि में मस्त होकर उसमें खो जाता है। जैसे कोई धनुर्धर शब्द भेदी बाण चलाता है और तीर उन्हीं शब्दों की ओर चला जाता है उसी प्रकार वह पथिक उस मधुर ध्वनि की ओर

अपने कदम बढ़ाता है। वह देखता है कि एक-दो नहीं बल्कि दर्जनों ग्वालिन मृतिका के बर्तन में मन्थन कर रही हैं। वह उस मन्थन को देखता जा रहा है और देखते-देखते उस मृतिका के बर्तन में से नवनीत ऊपर आता जा रहा है। इतनी ध्वनि होने पर भी वह कर्णप्रिय लग रही है। वह नवनीत आँखों को तृप्त करने वाला है, वह नवनीत शरीर को पुष्ट करने वाला है, वह नवनीत मृदुता को देने वाला है। नवनीत को चखकर ऐसा लगा मानो संसार की सारभूत अरिहंत अवस्था को किसी योगी ने प्राप्त कर लिया हो। वह पथिक एक ग्वालिन से पूछता है "माँ! यह मधुर ध्वनि जो निकल रही है वह कैसे निकल रही है?" वह ग्वालिन किसी स्याद्वादी की भाषा में कहती है कि यहाँ समझौता है। एक रस्सी कहीं अर्पित होती है तो दूसरी अनर्पित होती जाती है। जब मन्थन किया जाता तब एक रस्सी बँधती है तो दूसरी ढीली हो जाती है।

जहाँ पर व्यक्ति आपस में समझौता करना जानता है, झुकना जानता है, एक को क्रोध आए तो दूसरा क्षमा कर दे, एक व्यक्ति यदि प्रतिकूल हो तब दूसरा अनुकूल हो जाए तो वहाँ पर समझौता होता है, समन्वय की नीति होती है, स्याद्वाद की शैली होती है। जिस जीवन में समन्वय की नीति, स्याद्वाद शैली होती है, जहाँ समझौता होता है वहीं सुख-शांति-आनंद का नवनीत निकल करके आता है।

जिस व्यक्ति के पास स्याद्वाद की पद्धति समझने के लिए समय नहीं, जिसके पास समझौता करने का साहस नहीं ऐसा व्यक्ति नवनीत के समान आनंद को प्राप्त नहीं कर सकता।

वह जल कंकड़ पत्थर के ढेर में भी स्थान प्राप्त कर लेता है, बालू और राख का ढेर हो वहाँ भी प्रवेश पा लेता है जो दूसरों को प्रवेश देता है तभी हर जगह प्रवेश पा लेता है। वह सलिल अपने हृदय में चाहे कुछ भी हो, कूड़ा-कचरा हो, मिट्टी हो, कंकड़-पत्थर

हों, चाहे काँच का टुकड़ा हो, चाहे मल ही क्यों ना हो, वह जल उस मल को भी उठाकर बाहर नहीं फेंकता है, वह जल मल को भी अपने में स्थान देता है वह जल मल को निर्मल कर देता है।

महानुभाव! वह नवनीत तभी प्राप्त होता है जब व्यक्ति दूसरों को स्थान देने में समर्थ होता है। जिसके अन्दर रुक्षता है कठोरता है वह ना तो स्थान प्राप्त कर पाता है और ना किसी को स्थान दे पाता है।

पत्थर की दीवाल में कोई भी कील ठोकी नहीं जा सकती, यदि लोहे की दीवाल हो तो कील ठुकती नहीं है और पत्थर भी यदि कहीं ठौंका जाए तो वह भी स्थान प्राप्त नहीं कर पाता। जो जितना लचीला होता है, जिसमें जितनी ज्यादा लोच होती है वह उतना ही दूसरों को स्थान देने व स्वयं स्थान प्राप्त करने में समर्थ होता है।

महानुभाव! पूर्वाचार्यों ने एक कारिका लिखी और उसमें यही भाव प्रदर्शित किया है कि जीवन में टकराव नहीं समझौता हो, जीवन में शुष्कता नहीं आर्द्रता हो, जीवन में अहंकार नहीं नम्रता हो क्योंकि नम्रता जोड़ती है और अहंकार तोड़ता है।

घर्षेण जायते वह्नि, मन्थनेन च सुघृतं।
विज्ञाज्ञ-कृद-भेदेन, जानन्ति ते मनीषिणा:॥

घर्षण करने से अग्नि उत्पन्न होती है। यहाँ तक कि जिनका स्वभाव शीतल है वे यदि आपस में घर्षण करें तो वहाँ भी अग्नि पैदा हो जाती है। चंदन शीतल और सुगंधित होता है यदि बिना पानी के सूखा चंदन घिसा जाए तो सूखे चंदन की लकड़ी भी अग्नि को पैदा कर देती है, यदि पानी डाल दिया जाए तो लोहा को रगड़ने पर भी अग्नि उत्पन्न नहीं हो पाएगी। यदि चन्द्रकान्त मणि को भी आपस में कूटा-पीटा जाए तो उससे भी अग्नि पैदा हो जाएगी किन्तु पानी को आपस में पानी पर डाला जाए उसमें अग्नि पैदा न हो पाएगी। शुष्कता

अग्नि को पैदा करने वाली होती है और स्निग्धता दूसरों को भी स्निग्ध करने वाली होती है।

महानुभाव! यहाँ पर आचार्य महाराज कह रहे हैं कि "घर्षेण जायते वह्नि" घर्षण करने से जीवन में अग्नि की प्राप्ति होती है। जब नि:स्निग्ध दो पुरुष आपस में टकराते हैं तो वहाँ क्रोध की अग्नि पैदा होती है। यदि सस्नेही दो मनुष्य आपस में मिलते हैं तो दोनों के जुड़ने से शक्ति दुगनी हो जाती है। एक और एक आपस में मिलते हैं तो ग्यारह हो जाते हैं। एक और एक जब आपस में टकराते हैं तो शून्य रह जाते हैं। ऐसे ही जहाँ टकराव होता है तब डिमोशन होता है, पतन होता है, व्यक्ति नीचे की ओर गिरता है, नष्ट हो जाता है, शून्य हो जाता है और जब व्यक्ति स्नेह के साथ without कंडीशन जुड़ता है तो उसकी शक्ति कम से कम 10 गुनी बढ़ जाती है। यदि कोई एक अंक शून्य के साथ मित्रता करता है तो वह 10 हो जाता है। कहा भी है-

दो एक एकादश हुए, किसने नहीं देखे सुने।
शून्य के भी योग से, अंक होते दस गुने॥

महानुभाव! आगे आचार्य भगवन् कहते हैं-'मंथनेन च सुघृतं'-मंथन करने से सुघृत अर्थात नवनीत पैदा होता है।

"विज्ञाज्ञ-कृद-भेदेन" अर्थात् विज्ञ और अज्ञ का परिचय कार्य के भेद से होता है। कौन विज्ञ है कौन अज्ञ, जो घर्षण पैदा करता है वह अज्ञ है, मूर्ख है और जो मन्थन करता है, चिंतन करता है, चिंतन का नवनीत निकालता है वह वास्तव में विज्ञ है।

"जानन्ति ते मनीषिणा:"-जो इस रहस्य को जानते हैं संसार में वही मनीषी, विद्वान् और पूज्य कहलाते हैं, अभिवंदनीय, आदरणीय, सम्माननीय कहलाते हैं।

महानुभाव! जीवन का उद्देश्य बना लो कि हम जहाँ भी जाऐंगे वहाँ या तो सबको अपने में मिलाकर रहेंगे या उनमें मिलकर के जिऐंगे। जो दूसरों को अपने में मिलाकर के या दूसरों में मिलकर के जीता है तो उसका अस्तित्व बढ़ता चला जाता है। नदी सागर में मिलकर के जीती है तो सागर के अस्तित्व को बढ़ाती है और स्वयं के अस्तित्व को विस्तरित करती है। यदि वह दूसरों में ना मिल पाए या अपने में ना मिला पाए, यदि "नदी" नाले को अपने में ना मिला पाए या नदी सागर में ना मिल पाए वह 'नदी' नदी नहीं रह सकती, वह सूख जाएगी नष्ट हो जाएगी।

ऐसे ही जो व्यक्ति अपने में सबको मिलाने की सामर्थ्य रखता है वह अपना विस्तार कर लेता है और जो दूसरों में मिलने में समर्थ है वह भी कभी नष्ट नहीं होता किन्तु जो ऐसा नहीं कर सकता वह ठूंठ की तरह खड़ा रहेगा और दूसरा ठूंठ भी उसे मिल जाए तो आपस में टकराकर के नष्ट हो सकते हैं बाँसों की तरह से। इसीलिए जीवन में बाँस बनने की कोशिश मत करना, कोशिश करनी है तो घास बनने की कोशिश करना। घास कभी नष्ट नहीं होती चाहे कैसा भी तूफान आ जाए, कितनी भी आँधी जा आए वह घास खड़ी रहती है और बाँस कितना भी लम्बा हो जाए उसे टूटना ही पड़ता है। थोड़ी सी हवा चलते ही बाँस टूट जाता है क्योंकि वह लम्बा तो है किन्तु उसमें गहराई नहीं और मोटाई नहीं है। जो व्यक्ति सिर्फ वय से या सत्ता को प्राप्त करके ऊँचा, लम्बा (बड़ा) तो हो जाता है, फैलता नहीं वह टूट जाता है। जो फैलता है वह फूलता और फलता है।

जो वृक्ष झुकता है, छायादार फलता है वह सम्माननीय हो जाता है। जो दूसरों को आश्रय देने में समर्थ नहीं है वह ठूंठ है उसे उखाड़कर काटकर अलग फेंक दिया जाता है। जो व्यक्ति ठूंठ की तरह से जीता है उसे आज नहीं तो कल अलग कर दिया जाएगा,

उखाड़ दिया जाएगा, तोड़ दिया जाएगा। जो घास की तरह जीता है उसका अस्तित्व हमेशा रहता है। वह घास किसी को कष्ट नहीं देती, किसी के चुभती नहीं, किसी को भगाती नहीं, किसी को उखाड़ती नहीं इसीलिए वह घास सबके लिए प्रिय बन जाती है। लोग उस घास के माध्यम से आनंद का अनुभव करते हैं।

किन्तु बाँस जब तक जीवित रहता है, खड़ा रहता है तब भी आपस में टकराता है, कष्ट और परेशानी देता है और जब टूट जाता है तो उसकी लाठी बनाई जाती है उस लाठी से दूसरों पर प्रहार ही किया जाता है। लेकिन घास को जब गाय खाती है, तो वह घास गाय के उदर में पहुँचकर दुग्ध पर्याय को प्राप्त करती है।

सद्गुणी जहाँ भी चला जाएगा वह सद्गुण का विस्तार करेगा और दुर्गुणी जहाँ भी जाएगा वह दुर्गुण का विस्तार करेगा।

महानुभाव! जीवन में समन्वय की नीति सीखिए, जीवन में समझौता करना सीखिए, जीवन को समझदारी से जीना सीखिए। यह हमारा जीवन उधार का, माँगे का, वसीहत का नहीं इसीलिए जीवन को बहुत सावधानीपूर्वक जीने की आवश्यकता है। और आँखों में पानी भरकर अर्थात् शर्म, लाज के साथ जिओगे तो नि:संदेह आपका सम्मान सब जगह होगा और जो टकराव के साथ जीता है उसके माध्यम से किसी का कल्याण नहीं होता। आपका जीवन सबके लिए कल्याणकारी हो। शुभाशीष!

"जैनं जयतु शासनं"

अपना-पराया

महानुभाव! हमारी दशा शुद्ध कैसे होगी, हम परम शुद्ध कैसे हो सकते हैं, हम कैसे आत्मा के वैभव को प्राप्त कर सकते हैं क्या साधन है? क्या उपाय व क्या हेतु हैं?

जो व्यक्ति अभी पर पदार्थों में लीन है वह आत्मवैभव कैसे प्राप्त कर सकता है। परपदार्थों से तो मोह तोड़ना ही पड़ेगा, पर से नेह छोड़े बिना प्रमेय दशा की प्राप्ति नहीं हो सकती है। जब प्रमेय दशा प्राप्त होती है, जब ज्ञान के फल का प्रादुर्भाव होता है तब यह आत्मा पर पदार्थों से विरक्त होने में समर्थ होती है। अभी तो पर को अपना मानकर बैठे हो। जब तक पर अपना दिखाई दे रहा है तब तक स्व की और गति नहीं हो सकती। और पर को छोड़ना बड़ा कठिन है क्योंकि पर इतना लुभावना है, इतना मोहक व आकर्षक है इतना प्रभावी है कि जब वह 'पर' सामने आता है तो व्यक्ति स्व को भूल जाता है इसीलिये आचार्य महोदय कहते हैं 'परखो'। 'सुजानो परखो' सुजानो का अर्थ होता है सज्जन पुरुष और सुजानो का दूसरा अर्थ होता है अपने आप को जानो। हे सुजान्! सम्यक्ज्ञान को धारण करने वाले ज्ञानी पुरुष अपने आप को जान। किंतु ये तभी संभव है जब 'परखो'। अर्थात् जब तक पर को खोयेगा नहीं तब तक स्व को जान न पायेगा। इसीलिये पहले परखो।

महानुभाव! व्यक्ति पहले सबको परखता है संसार के सभी पदार्थों की जाँच पड़ताल करता है किंतु स्वयं को परखने के लिये दूसरों (पर) को खोना जरूरी है। संसारी प्राणी प्राय:कर अपनी आत्मा को खोजने का प्रयास करते हैं, परमात्मा को खोजने का प्रयास करते हैं वे सबसे पूछते हैं किंतु परमात्मा ऐसे कहीं मिलता नहीं। मिलेगा भी नहीं यदि परमात्मा इस तरह खोजने से मिल जाता तो सभी वैज्ञानिक परमात्मा को खोज लेते। यदि परमात्मा खोजने से

मिल जाते तो जो निमित्त ज्ञानी हैं वे खोज लेते अथवा तैराक समुद्र में गोता लगाकर खोज लेता, जंगलों में गर परमात्मा होते तो जंगल में रहने वाले उन्हें खोज लेते अथवा पर्वत की चोटी पर ढूंढ लेते अथवा परमात्मा वृक्ष पर होता तो पक्षी ही ढूंढ लेते किंतु परमात्मा कहीं खोजने से नहीं मिलता, अपना स्वभाव खोजने से नहीं मिलता है वह तो खोदने/बोधने से मिलता है। खोजना-खो-जाना पहले तो खो, जब खोयेगा नहीं तो तुझे मिलेगा क्या? इसीलिये खोना जरूरी है। खोया वह है जिसने पहले जो हाथ में है उसे छोड़ दिया।

एक व्यक्ति किसी खंभे को पकड़कर खड़ा हो गया, और अब वह सभी को आवाज लगाता है बचाओ-बचाओ इस खंभे ने मुझे पकड़ लिया है, सुनने वाला कहता है-रे मूर्ख! तुझे खंभा कैसे पकड़ लेगा। वह कहता है-देखो मैं तुम्हारे पास आ ही नहीं सकता खंभे ने मुझे पकड़ लिया है, मैं खूब ताकत लगाता हूँ फिर भी मुझे नहीं छोड़ता। समझदार व्यक्ति ने उससे कहा-भाई अपने हाथों को ढीला छोड़ दे तो खंभा तुझे स्वयं छोड़ देगा। बँधन से मुक्त हो जा तो खंभा तुझे पकड़ नहीं सकता। इसीलिये पहले खोना जरूरी है। लोग कहते हैं 'खो' किंतु स्वयं ही खोने को तैयार नहीं, जो व्यक्ति जीवन में खोने को तैयार नहीं है वह कभी कुछ प्राप्त नहीं कर सकता। खोने वाला ही पा सकता है।

जिसे खोना चाहिये व्यक्ति उसे खोता नहीं है, जिसे पाना चाहिये उसे पाता नहीं है खोने योग्य वस्तु को खोये बिना पाने वाली वस्तु पा नहीं सकता। पाप को खोये बिना पुण्य को कैसे पायेगा? किंतु कहता जरूर है पाप-पाप। पाप-पाप कहकर भी पुण्य कहाँ प्राप्त कर पाता है। और खो-खो खेलकर भी कहाँ खो पाता है। यदि कर्मों को खोना चाहता है, कर्म के खेल को खोना चाहता है, संसार के वैभव को खोना चाहता है किंतु सिर्फ खो-खो खेलकर भी खो नहीं

पाता और पा-पा कहकर भी पा नहीं पाता। किंतु बात यह है खोना भी है और पाना भी है। पहले खोने को तैयार हो जायें तो प्राप्त कर पायें।

खोजना ही है तो खोजना सदैव स्वयं में होता है। हमारी आत्मा, हमारा परमात्मा तो हमारे पास है तो उसे खोजना नहीं है उसे तो खोदना है। किसान पानी को खोजता नहीं है ऐसा नहीं कि वह कहीं चला जाये कि पानी मिले-पानी मिले। माना कि पानी कहीं दूर दराज तालाब झील नदी में है तो उस पानी को खोजने से तुम्हारा खेत तो सूखा का सूखा ही रहेगा उससे क्या काम सिद्ध होने वाला है क्या वहाँ के पानी को देखने से तुम्हारा खेत हरा हो जायेगा? नहीं हो सकता। वह पानी तो केवल इसीलिये देखना है जिससे तुम्हें पानी की पहचान हो जाये कि पानी है क्या चीज। दूसरों के हरे-भरे खेत को देखकर के तुम्हें विश्वास हो जाये कि तुम्हारा खेत भी हरा भरा हो सकता है, तुम्हारी फसल भी सूखेगी नहीं, यदि जल सिंचन सही मात्रा में सही समय पर किया है तो। अब वह किसान चुल्लुभर समुद्र से पानी भरकर नहीं लायेगा या नदी तालाब से नहीं लायेगा कब तक इतने बड़े खेत को सीचेंगा। अब वह अपने ही खेत में कुँआ खोदने का प्रयास करेगा और जब अपने खेत में मिट्टी को खोदता जायेगा-खोदता जायेगा तब वह निसंदेह खोदते-खोदते जल को वहीं प्राप्त कर लेगा। अपने खेत का कुँआ ही अपने खेत को हरा-भरा रख सकता है, दूसरों के खेत के कुँए के जल के भरोसे रहा तो खेती सूख जायेगी बीज भी व्यर्थ चला जायेगा। जीवन में खेती करने वाले विवेकी किसान सोचते हैं कि बीज बोने से पहले यह भी तो सोच लूँ कि सिंचाई कहाँ से करूँगा। यदि खेत में स्वयं के संसाधन हैं तब तो ठीक है अन्यथा फसल को तो सूखना ही सूखना है।

तो हमें भी अपनी आत्मा को हरा-भरा बनाने के लिये हमारी आत्मा पर जो कर्मों की परतें जमीं हुई हैं उन एक-एक पर्त को खोदते जाना है। सबसे बड़ी चट्टान मोह की चट्टान है जिस चट्टान के कारण आत्मा अपने स्वभाव के बारे में सोच भी नहीं सकती। अज्ञान असंयम की चट्टान को तो तोड़ना ही पड़ेगा। चट्टान उसके टूटते ही नीचे जो अंधकार दबा पड़ा है वहाँ प्रकाश हो जायेगा। प्रकाश होते ही हमें मिट्टी खोदना है। चट्टान भी टूट गयी, अज्ञान भी नष्ट हो गया, अब तो प्रकाश है और वह खोदना प्रारंभ करता है मिथ्यात्व की चट्टान को तोड़ा, सम्यक्ज्ञान का प्रकाश साथ में आ गया जिससे सम्यक्चारित्र को प्राप्त करने के लिये असंयम की खुदाई करके असंयम की मिट्टी को निकालता जाता है तो आत्म आनंद का निर्मल स्त्रोत फूट पड़ता है अंदर से।

महानुभाव! हमारी सबसे बड़ी भूल तो ये रही कि हमने पर को अपना मान लिया। अपना-पराया है क्या? पहले हम इसे समझ लें। पराया-पर आया जो पर से आया है वह पराया है। और 'प'-कहिये तो पाप-पुण्य। र-रमण अर्थात् पाप-पुण्य में रमण करने से आता है वह है पराया। चाहे पाप का फल हो या पुण्य का फल हो पराया तो पराया है। पर से होने वाली आय-आमदनी वह सब पर है। वह चेतना की निधि नहीं हो सकती, उसे चेतना भोगती भले ही है, शरीर भी भोगता है। कुछ प्रकृतियाँ जीव विपाकी होती हैं, कुछ पुद्गल विपाकी होती हैं, कुछ भव विपाकी होती है, कुछ क्षेत्र विपाकी होती हैं। फल जीव-पुद्गल दोनों के द्वारा संसार अवस्था में भोगा जाता है। किंतु यह कर्म आत्मा नहीं है, पुण्य का फल भी आत्मा नहीं है, पाप का फल भी आत्मा नहीं है। वह मैं नहीं हूँ वह तो पराया है इसीलिये पर से जो कुछ भी तुम्हारे पास आ रहा है वह पराया ही था, पराया ही है, पराया ही होगा किंतु स्व से आता है वह अपना होता है। स्व

से आशय अपने आप से। अपनी आत्मा से जो वैभव होता है वह अपना है, वह वास्तव में अपनी लक्ष्मी है-'मुक्तिलक्ष्मी।'

लोग तो संसार में कहते हैं सास के माध्यम से जिसका जन्म हुआ है वह पुत्री, उसे वे अपनी लक्ष्मी कहते हैं किंतु वह वास्तव में लक्ष्मी नहीं है, वह तुम्हारी पत्नी नहीं है। तुम्हारी पत्नी तो मुक्ति लक्ष्मी है मुक्ति श्री है। वह कहाँ से आती है? उसका जन्म कौन सी सास से होता है 'स्वसा' अर्थात् स्व से। जो स्व से उत्पन्न होती है वही मुक्ति श्री लक्ष्मी है। मोक्ष हमें कोई भी तीर्थंकर नहीं दे सकते कोई भी भगवान् कोई भी परमेष्ठी नहीं दे सकते। हमें मोक्ष की प्राप्ति तभी होगी जब हमारी आत्मा में से कर्मों की चट्टानें टूट जायेगी। उन चट्टानों को तोड़ने और कोई नहीं आयेगा वे तो तुम्हें ही तोड़नी पड़ेंगी चाहे छोटी हथौड़ी से तोड़ो चाहे बड़ी हथौड़ी से तोड़ो। अर्थात् चाहे पूजा-भक्ति करके तोड़ो चाहे व्रत उपवास करके साधना से तोड़ो, चाहे धर्म-ध्यान के माध्यम से तोड़ो कर्मों की चट्टान को तो स्वयं ही तोड़ना है। और जब-तक मैं कर्मों की चट्टान तोड़ने के लिये समर्थ नहीं हूँ, तत्पर नहीं हूँ अथवा तोड़ने का संकल्प नहीं लिया है तब तक मेरी मुक्ति श्री को, मेरी लक्ष्मी को मुझे कोई दे ही नहीं सकता, मेरी स्वाभाविक परिणति को कोई मुझे दे नहीं सकता, वैभाविक परिणति को त्याग किये बिना स्वाभाविक परिणति की प्राप्ति असंभव है। त्रैकाल्य असंभव है।

महानुभाव! अंधकार का नाश और प्रकाश का प्रारंभ दोनों एक साथ होते हैं अलग-अलग नहीं होते। मिथ्यात्व का नाश सम्यक्त्व की उत्पत्ति दोनों एक साथ होते हैं। असंयम का नाश संयम की प्राप्ति दोनों एक साथ होते हैं। केवल ज्ञान की प्राप्ति अज्ञान का नाश एक साथ होते हैं, सिद्धत्व की प्राप्ति संसार का अभाव एक साथ होते हैं दोनों अलग नहीं हैं। कथन विधिपरक और निषेध परक दोनों

प्रकार से होता है, यदि पहले किसी का निषेध किया तो दूसरे की विधि नियम से रहेगी और यदि विधि का कथन पहले किया है तो किसी न किसी का निषेध पीछे अवश्य रहता ही रहता है।

महानुभाव! 'पराया'- जो कुछ भी पर से आया है वह सब पराया है। न मेरा है, न था, न होगा। इसीलिये पर को छोड़ो।

अगला शब्द है-'अपना'- सही बात तो ये है जिसे तुम कह रहे हो अपना, वह भी अपना नहीं है।

अपना भी पराया है। जो पराया तुम अपना कह रहे हो वह तो आपका पराया है ही जैसे आप कहते हैं-

जहाँ देह अपनी नहीं, तहाँ न अपनो कोय।
घर सम्पत्ति पर प्रगट है, पर है परजन लोय॥

आप कहते हैं ये हमारी घर की बेटी है, ये परायी है। ये हमारे देश के हैं ये पराये देश के हैं, तो जिन्हें आपने पराया कहा वह तो पराया है ही उसमें तो कहीं शंका है ही नहीं उसको तो पर आप कह ही रहे हैं किंतु दूसरी बात भी सुनें-जिसे आप अपना कह रहे हैं वह भी पराया है। शब्द क्या है अपना-पराया। जो जो आप अपना कह रहे हैं वह पराया है इसीलिये किसी भी चीज को अपना मत कहो। यदि कहते हो मेरा शत्रु है तो वह भी पराया है, मेरा मित्र है तो भी पराया है, मेरी पत्नी, मेरे माता-पिता, मेरी पुत्री, मेरे घर-भवन इत्यादि जो कुछ भी कह रहे हैं वह सब भी पराया है। आप कहेंगे ऐसा क्यों? क्योंकि जहाँ पर आप अपना या मेरा कहोगे तो षष्ठी विभक्ति हो जायेगी। षष्ठी विभक्ति एक द्रव्य में घटित नहीं होती है दो द्रव्यों में होती है। एक तो वह जो कह रहा है 'मेरा' और दूसरा वह वस्तु जिसे अपनी कह रहा है, इस तरह दो अलग-अलग वस्तु हो गयीं। कहने वाला अलग है और जो वस्तु कह रहा है वह अलग है। दोनों

चीजें स्पष्ट रूप से अलग हैं तो दोनों एक कैसे हो सकती हैं। संसार में आप जिस किसी भी वस्तु के साथ अपनेपन का व्यवहार करते हो कि यह मेरा है, ये हमारे महाराज जी हैं, ये हमारे शास्त्र हैं, हमारे गुरु हैं, हमारे भगवान् हैं आदि कुछ भी जिसे अपना कहते जा रहे हैं वह मेरा भी मेरा नहीं है अर्थात् अपना-पराया। अभी तो आप पराये को भी पराया नहीं कह पा रहे अभी तो आप पराये को भी अपना कहते चले जा रहे हो, ध्यान रखें जिसके साथ रहते हैं वह भी पराया है। जब तक आँख खुली है तब तक सबको अपना कह रहे हो किन्तु-

आँख मुंदी तो अपना गया, आँख खुली तो सपना गया।
'दो दिन का मेहमान यहाँ पर, साँस रुकी तो दफना गया।।'

महानुभाव! है क्या संसार में? कुछ भी तो नहीं है अपना-पराया। किसे मैं अपना कहूँ किसे पराया?

कौन है अपना कौन पराया, ये जग है अंजाना मेला।
इस जग में आकर चेतन, करता जनम-मरण अकेला।।

चाहे कोई भी हो इस दुनिया में रे चेतन! अकेला ही जन्म-मरण करता है सब अकेले ही अकेले हैं।

रे जीव तू जनमता मरता अकेला,
कोई न साथ जाता गुरु भी न चेला।
है स्वार्थमय ये संसार बस इक झमेला,
जाते सभी बिछुड़ कर निज अन्त बेला।।

अकेला ही जीव जन्म-मृत्यु को प्राप्त करता है,

एक्को करेदि कम्मं, एक्को हिंडदि य दीहसंसारे।
एक्को जायदि मरदि य, तस्स फलं भुंजदे एक्को।।

यह जीव अकेला ही अपने सुख-दुःख भोगता है, अपने ही पाप

कर्म के उदय से नरक-निगोद में जाता है, एक, दो, तीन, चार इन्द्रिय आदि होता है। अकेला ही पुण्य का फल भोगने के लिये स्वर्ग में जाता है, राजा-महाराजा-अधिराजा बनता है, अकेला ही कर्म को नष्ट करके मोक्ष को प्राप्त करता है।

महानुभाव! जीव तो अकेला ही आता है किंतु यहाँ आकर उसे अकेलापन अखरता है इसीलिये सबके बीच में रहता है, इसीलिये व्यवहार चलाने के लिये नाम भी रखता है, वस्तुओं के नाम, अपने शरीर आदि सबके नाम रखता है। यदि अपने आपको जन्म से लेकर मृत्यु पर्यंत तक अकेला मान ले और संसार की किसी भी वस्तु व व्यक्ति का नाम न रखे तो यह जीव संसार में रह नहीं सकता। वह सबको क्या कहेगा? आत्मा, मैं भी आत्मा। रागद्वेष तो नाम से है, संज्ञा से है, रागद्वेष के गुणधर्म को हमने अपनी कल्पना में अच्छा-बुरा मान लिया है यदि सबको आत्मा मानेंगे तो राग-द्वेष कैसे होगा, सब वस्तुओं को पुद्गल मानेंगे तो पुद्गल मानने से राग-द्वेष कैसे होगा? फिर किसी से कोई बात ही न होगी, जब किसी वस्तु का कोई नाम ही नहीं है, तब चर्चा किससे करोगे। आत्मा-आत्मा कहकर या पुद्गल-पुद्गल कहकर व्यवहार करोगे तो संसार में जी न सकोगे मोक्ष जल्दी प्राप्त होगा। किंतु नयी-नयी पर्याय, नये-नये आकर्षक नाम चाहे वस्तु का हो या व्यक्ति का हो तो विरक्ति कहाँ से होगी, वहाँ तो आसक्ति है।

आज फैशन का दौर है सब चीजें बड़ी प्रचुरता से बदलती जा रही हैं। कैसे? एक व्यक्ति दौड़ता चला जा रहा था उसके हाथ में एक पैकेट था, वह दुकानदार के पास पहुँचा बोला जल्दी से इसे सिल दो, वह दुकानदार बोला इतनी जल्दी में क्यों हो? वह बोला जल्दी से जल्दी इसे तैयार कर दो, ताकि मैं इसे पहन लूँ, दुकानदार बोला क्यों? वह बोला कहीं ऐसा न हो कि मैं लेट हो गया तो इसकी

फैशन ही चेंज हो जाये तो इसको सिलवाना ही बेकार हो जायेगा। इतनी जल्दी फैशन बदल रहा है कि कपड़े सिल कर पहन न पाओ कि फैशन चेंज क्योंकि नये-नये फैशन आते हैं तो व्यक्ति अपना मन रोक नहीं पाता। एक ही प्रकार के कपड़े तुम जिंदगी भर पहनते रहो तो तुम उन कपड़ों से ऊब जाओगे, एक ही प्रकार का भोजन करते रहो तो उससे भी बोर हो जाओगे कहोगे-घर में कुछ और भी है या नहीं, वही रोज-रोज दाल वही सब्जी, कुछ चेंज करो। तो व्यक्ति चेंज करता है जिससे वैराग्य/विरक्ति या उदासीनता न हो। नयी-नयी पर्यायों के प्रति आकर्षण ज्यादा होता है। राग-द्वेष होता है पर्यायों के प्रति, आत्मा के प्रति नहीं। जब सभी आत्मा एक बराबर हैं तो उनमें राग-द्वेष का तो प्रश्न ही नहीं। कर्मों का आवरण नष्ट हो जाए तो किसी भी आत्मा में ज्ञान कम या ज्यादा नहीं होगा, सुख में कहीं कोई अंतर नहीं होगा। किसी भी आत्मा का एक भी गुण अधिक वा कम नहीं होता।

महानुभाव! जो निधि हमसे कभी छीनी नहीं जा सकती ऐसी आत्म गुणों की निधि अपनी है, जो वैभव किसी से लेना नहीं अंतरंग से स्वयं प्रकट होता है वह केवलज्ञानादि वैभव अपना है इसके अतिरिक्त सब पराया है। स्व को जानें, स्व को मानें, स्व को पहचानें व स्व-भाव को प्राप्त करें।

"जैनं जयतु शासनं"